THE BOOK WAS DRENCHED

सुन्दर साहित्य-माला

सम्पादक

आचार्य श्रीरामलोचनशरण बिहारी

हमारे यहाँ से प्रकाशित अन्य नाटक

१	कामना—स्वर्गीय श्रीजयशंकर 'प्रसाद' जी	१।)
२	सोने की गाड़ी—श्रीरामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', एम० ए०	॥)
३	मणिगोस्वामी—प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र, एम० ए०	।॥), ॥)
४	सत्यहरिश्चन्द्र—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	।=)
५	प्रह्लाद—श्रीकाशीनाथ त्रिवेदी	।)
६	मानमर्दन—स्वर्गीय पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा	॥)

अन्य प्रकाशकों के नाटक भी हमारे यहाँ मिलेंगे

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय (बिहार)

ऐतिहासिक नाटक]

श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र, बी० ए०

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय और पटना

१॥)

से जैसे उसके पिता की सहानुभूति नहीं, स्त्री की भी नहीं; और भाई तो प्रतिद्वन्द्वी हो था। फिर उसका संन्यासी हो जाने का पथ बड़ा सीधा और सुगम हो जाता है। इतना होने पर भी अशोक के सामने एक घटना उपस्थित होती है, और वह बाध्य होकर 'कलिंग'-आक्रमण के समय 'विमला' के तीव्र विरोध में भी सम्राट होना स्वीकार करता है।

इन सब घटनाओं के मूल में एक भीषण व्यक्तित्व का हाथ है। वह धर्मोन्माद का प्रतिनिधि-स्वरूप है—भावुक है—प्रवंचक है—धूर्त्त है, और हत्यारा भी है। सब होने पर भी इसके पास अपने कर्मों के लिए तर्क है। यह व्यक्ति, कृतियों के देखने से, इस नाटक के पात्रों में सबसे प्रधान है। उमड़ते हुए बौद्ध-धर्म का निष्फल विरोध करने में इसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। परन्तु प्रतिभा जब विपथ-गामिनी होती है, तो असफलता ही मिलती है—इसका 'धर्मनाथ' एक ज्वलंत प्रमाण है। ब्राह्मण-चरित्र में इतना पतन दिखलाकर बौद्ध-धर्म की उन्नति के लिए काफी अवसर दे दिया गया है।

अकस्मात् एक महान् परिवर्त्तन होता है। धर्मनाथ विष खाकर आत्महत्या करता है; और जिसके लिए सारा प्रयत्न होता है, वही 'अशोक' बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने का प्रस्ताव करता है। जहाँ 'अशोक' वास्तव में 'धर्माशोक' होकर खड़ा होता है, वहीं नाटक की समाप्ति है। नाटक में साधारण मनुष्य के रूप में ही जहाँ तक अशोक का जीवन है, उतना ही चित्रित किया गया है; और वही उपयोगी है।

'अशोक' के लिए और भी एक समस्या है। उसकी स्त्री 'देवी' एक कोमल कल्पनाओं से भरी—सुख की अभिलाषाओं से ओतप्रोत—रमणी है। 'अशोक' उसके अधिक आकर्षण से और भी विरक्ति का अनुभव करता है। कौन जाने कि 'अशोक' के भावी जीवन में 'देवी' के इस अनुराग ने क्या परिवर्त्तन किया हो। फिर भी देवी का चरित्र मधुर और रमणीय है।

'अरुण'—भवगुप्त का लड़का—एक निर्मल हृदय का युवक है। 'माया' एक शक्तिशालिनी प्रेमिका है। वह युद्ध भी कर सकती है, और प्रेम भी कर सकती है। डायना, ऐंटीओकस और ऐंटीपेटर का इस नाटक में समावेश उस काल के ग्रीकों और भारतीयों के परस्पर सम्बन्ध का द्योतक एक चित्र है। डायना निश्चल प्रेम की प्रतिमा है। मेसिडन का सिंहासन छोड़कर वह एक साधारण युवक को निष्फल प्यार करते-करते अन्त में पागल हो जाती है।

इस नाटक में चरित्रों के विकास का मनोरंजक चित्र है, और हम अपनी ओर से प्रशंसा न करके इसका भार पाठकों पर ही रखते हैं। वे ही विचार करें कि तेईस सौ वर्ष पहले के चरित्र-चित्रण में नाटककार को कितनी सफलता मिली है।

इसके लेखक स्वयं एक कुशल और सहृदय कवि हैं। इनके 'अन्तर्जगत्' को पाठकों ने देखा है। उसी कवित्व-शक्ति का उन्मेष इस नाटक के गद्य-भाग में भी कितनी प्रचुरता से है, इसका अनुभव पढ़ने ही से होगा। हृदय की कोमल भावनाओं का स्थान-स्थान पर विश्लेषण मिलेगा। हम आशा करते हैं कि लेखक की और भी किसी सुन्दर और नवीन कृति से प्रकाशक महोदय पाठकों का मनोरंजन करेंगे।

नवाबगंज, काशी
विजयादशमी, १९८४

वाचस्पति पाठक

पात्र-पात्रियाँ

पुरुष

विन्दुसार	मगध के सम्राट
भवगुप्त, अशोक	विन्दुसार के लड़के
धर्मनाथ	एक ब्राह्मण
गिरीश	धर्मनाथ का शिष्य
ऐंटीओकस	बेक्ट्रीया का सम्राट
ऐंटीपेटर	ऐंटीओकस का पोष्यपुत्र
मैकडीमस	ऐंटीपेटर का साथी
चन्द्रसेन	विन्दुसार का मंत्री
सर्वदत्त	कलिङ्ग के महाराज
जयन्त	सर्वदत्त का लड़का
विजयकेतु	कलिंग का मंत्री
वीरभद्र	कलिंग का एक सैनिक

उदयभानु, चन्द्रधर, अन्य सैनिक तथा नागरिक

स्त्री

डायना	ऐंटीओकस की लड़की
विमला	भवगुप्त की स्त्री
देवी	अशोक की स्त्री
माया	सर्वदत्त की लड़की

पहला अंक

पहला दृश्य

इन्द्रप्रस्थ के समीप यमुना-तट

(धर्मनाथ अकेले टहलते हुए कुछ सोच रहे हैं)

धर्मनाथ—परिवर्त्तन, कितना महान परिवर्त्तन है! गौरव का एक अक्षय समारोह आज अन्तिम साँस ले रहा है। अतीत की वह पवित्र कहानी आज समाप्ति के सन्निकट है। होने दो, मेरा क्या है! संसार बहा जा रहा है, उसी में मैं भी बह रहा हूँ।—इस अनन्त प्रवाह को मनुष्य रोक नहीं सकता। जीवन कितना सरल एवं कितना जटिल है? मनुष्य इस जीवन और मरण का रहस्य जानते हुए भी कर्म करता है—क्यों? इस 'क्यों' का उत्तर नहीं—कदाचित् उसका यह स्वभाव है। मानव-हृदय में विधाता ने जिस वर्णनातीत असंगति की सृष्टि की है—कदाचित् इसी कर्म-क्षोभ में उसका निवास है। तब फिर मैं ही चुप क्यों रहूँ, और चुप रह भी कैसे सकता हूँ? अभी उस दिन उस शूद्र ने कहा था—'यदि ब्राह्मण होना वास्तव में कोई गौरव की बात है, तो मैं भी ब्राह्मण हूँ।' उफ! जिस जाति ने

अनेक बार अपने जीवन का हवन कर मानवीय आत्मा में मुक्ति का संदेश भेजा था, उसी की आज यह दुर्दशा !

(गिरीश का प्रवेश)

गिरीश—गुरुदेव ! भारत-सम्राट बिन्दुसार के राजकुमार अशोक आपके दर्शन करने आ रहे हैं।

धर्म०—(कुछ अन्यमनस्क-से घूमकर) कौन, गिरीश !

गिरीश—राजकुमार अशोक !

धर्मनाथ—हाँ, वही राजकुमार !

गिरीश—हाँ गुरुदेव, वही अशोक, जिनके विषय में मैंने उस दिन आपसे कहा था; मैंने उन्हें इस बात का विश्वास करा दिया है कि आपकी सहायता से वह सारे पंचनद-प्रदेश को अपने इच्छानुसार चला सकते हैं।

धर्मनाथ—तुमने यह क्यों कहा ? मैं तो अपनेको भी अपने इच्छानुसार चला नहीं पाता—यह क्या सम्भव है, पंचनद-प्रदेश और मेरे इच्छानुसार ? अच्छा, इस समय तुम जाओ। ध्यान रहे, राजकुमार का यथोचित सत्कार होता रहे।

गि०—इसमें त्रुटि न होगी, गुरुदेव ? (प्रस्थान)

धर्म०—अभागा राजकुमार, दुर्भाग्य की लहरों में बहता हुआ यहाँ पहुँचा है। डूबने में देर नहीं है, परन्तु नहीं, डूबने नहीं दूँगा—यह एक अच्छा सुयोग है। यदि हाथ लगा, तो फिर ब्राह्मण—

(अशोक का प्रवेश)

अशोक—(धर्मनाथ के सामने झुककर) भगवान् ! प्रणाम।

धर्म०—प्रणाम और मुझे ? क्या तुम्हें आज भी कोई ऐसी वस्तु मुझमें देख पड़ती है, जिसे तुम प्रणाम करते हो ?

अशोक—क्यों भगवन् ? आप ब्राह्मण हैं। क्या कोई वस्तु इस ब्राह्मणत्व से भी पवित्र हो सकती है ! यदि अशोक किसी भी वस्तु को प्रणाम कर सकता है, तो वह है 'ब्राह्मणत्व' !

धर्म०—राजकुमार ? तुमने ब्राह्मण की महिमा इतिहासों में पढ़ी है। आज के विश्व को देखो। ब्राह्मण के प्रति अब इस संसार में सम्मान नहीं रह गया। अशोक ! ब्राह्मणों का वह दिन चला गया—सदैव के लिए चला गया, जब चक्रवर्त्तियों के मुकुट से उनके चरण सुशोभित होते थे। सदैव परलोक के चिन्तन करते रहने के कारण ब्राह्मणों ने अपना यह लोक खो दिया। नहीं तो जितना आत्म-बलिदान इस जाति ने अदृश्य के लिए किया है, उतना ही बलिदान यदि दृश्य के लिए किये होती तो आज यह विशाल विश्व इसकी मुट्ठी में होता। अशोक ! ब्राह्मण भी युद्ध करना जानते रहे हैं—अन्तर केवल इसमें इतना ही रहा है कि जहाँ साधारण मनुष्य युद्ध करता है मनुष्य के साथ, वहाँ ब्राह्मण युद्ध करता रहा है यमराज के साथ। जहाँ तुम्हारी जाति ने मानव-समुदाय का संहार कर मनुष्य पर मृत्यु की विजय स्थापित की है, वहाँ हमारी जाति मनुष्य और संसार-सम्बन्धी जटिल समस्याओं को सुलझा कर मृत्यु पर मनुष्य की विजय स्थापित करती है। जाने दो अशोक, अब तो वह सुन्दर अतीत स्मृति-मात्र रह गया है, वह भी मिट जायगा।

अशोक—नहीं भूदेव ! यह निराशा आपको शोभा नहीं

देती। ब्राह्मण आज भी ब्राह्मण हैं, और सो भी इस प्रदेश में—साम-गान के तंत्री-नाद ने सर्वप्रथम जिस वातावरण को पवित्र किया था, वहाँ ब्राह्मण अपने ऊँचे आसन से खिसक नहीं सकते—यज्ञों की पुनीत वायु ने जहाँ दिशाओं को सुवासित किया था—

धर्मनाथ—खिसक नहीं सकते अशोक! (कुछ सोचते हुए) क्या अब भी आशा है? नहीं—क्रान्ति की एक भयंकर लहर चली आ रही है, मैं खुद देख रहा हूँ, और जानता हूँ कि वह मुझे निगल जायगी, तुम्हें निगल जायगी—फिर जाति का संगठन नये नियमों और नई रीतियों से होगा। उसमें ब्राह्मणों का अस्तित्व नहीं रहेगा—और यदि रहेगा भी, तो इस 'त्व' से हीन!

अशोक—यदि क्रान्ति सत्य है, तो क्या वह इतनी प्रबल है कि उसके रोकने का प्रयत्न भी नहीं किया जा सकता?

धर्म०—हाँ, क्रान्ति सत्य है, और वह रोकी नहीं जा सकती; किन्तु प्रयत्न तो करना ही होगा। अपने अस्तित्व के लिए सभी लड़ते हैं—मैं भी लड़ूँगा।

अशोक—इस महत् कार्य में मैं अपना जीवन—

धर्म०—मैं तुम्हारे विषय में सब सुन चुका हूँ राजकुमार! हताश होने का कोई कारण नहीं है। जिस पंचनद-प्रदेश ने चंद्रगुप्त की लाज रखी थी, वह अशोक को अपने द्वार से विमुख नहीं कर सकेगा। तुम्हारे जीवन का मूल्य बहुत अधिक है, यदि एक बार वह ठीक पथ पर आ पाता।

दूसरा दृश्य

बैक्ट्रीया, ऐंटीओकस के महल से सटा बाग

(डायना एक खिले हुए गुलाब की डाली पकड़कर खड़ी है,
घड़ी-भर दिन शेष)

डायना—यह गुलाब आज खिल उठा, कल अभी तक कली था, और परसों शायद अभी पूरी कली भी न आई थी। कोई वह भी दिन था, जब यहाँ इस फूल के कोई भी चिह्न नहीं थे। किन्तु नहीं, यह पेड़ लगा ही क्यों था? केवल फूलने ही के लिए तो? यदि फूल न आते, तो इसके जीवन का उद्देश्य क्या होता? इसने फूलने के लिए कोई प्रयत्न किया? नहीं, फूल स्वयं आ गया। फूलना ही तो इसका स्वभाव है। न फूलना तो इसकी अस्वाभाविकता होती। मालूम पड़ता है कि प्रकृति के ये थोड़े-से नियम हैं, जो सर्वत्र दीख पड़ते हैं मुझमें भी और इस गुलाब में भी। यह गुलाब आज खिल उठा, और मैं—(कुछ सोचकर) हाँ, मैं भी तो अब खिल उठी; किन्तु मेरे और इसके खिलने में कुछ अन्तर है, और वह—गुलाब ने अपना हृदय खोलकर हवा में सुगन्धि उड़ा दी है—जो चाहेगा, वह भी पायेगा—जो न चाहेगा, वह भी पायेगा। और मैं—मैं उस सुगन्धि को अपने ही भीतर दबा रही हूँ; चाहती हूँ, कहीं इसका किसी को पता न चले। इस गुलाब की सुगन्धि चारों ओर फैलकर आज ही समाप्त हो जायगी—और यह—इसका अन्त नहीं है—इसका अन्त मैं सह न सकूँगी। मुझे क्या हो

गया, उस दिन, एक ही क्षण में, मैं कहाँ-से-कहाँ आ गई। मुझे मालूम हो रहा है, आज मैं जिधर जा रही हूँ, संसार उसके प्रतिकूल दूसरी ही ओर जा रहा है। लौटूँ, नहीं, मैं इसी एकान्त विश्व में अपने देवता का आवाहन करूँगी। ऐंटीपेटर! तुमने मुझे किस धार में छोड़ दिया निष्ठुर! अंग शिथिल हो रहे हैं! बस अब डूबी!

(ऐंटीओकस का प्रवेश)

ऐंटीओकस—(डायना के कन्धे पर हाथ रखकर) क्या सोच रही है? तेरे शरीर पर धूप पड़ रही है। यह कोई घूमने का समय है?

डायना—(ऐंटीओकस की ओर देखकर) आप मुझे बतलायेंगे, यह गुलाब खिला क्यों है?

ऐंटीओकस—गुलाब का खिलना एक प्राकृतिक नियम है।

डायना—खिलते हुए गुलाब पर भँवरे के मँडराने को प्राकृतिक नियम कह सकते हैं या नहीं?

ऐंटीओकस—प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह करने का ढंग केवल मनुष्य ही ने सीखा है, गुलाब का खिलना और भँवरे का मँडराना—दोनों—प्राकृतिक नियम हैं।

डायना—प्राकृतिक नियमों में भी कोई दोष होता है?

ऐंटीओकस—नहीं, प्राकृतिक नियमों में कोई दोष नहीं होता। सच तो यह है कि जो बात प्राकृतिक नियमों के अनुकूल नहीं उतरती, वही सदोष कही जाती है, अन्यथा दोष की फिर कोई दूसरी परिभाषा नहीं।

डायना—किन्तु ऐसे भी लोग हैं, जो गुलाब पर भँवरे के मँडराने को एक दोषपूर्ण कार्य समझते हैं।

ऐंटीओकस—हाँ, यह सच है; किन्तु इसका एक कारण है। भँवरे को दोष देने के पहले ही उनके हृदय में एक ऐसे मनुष्य की धारणा उठ खड़ी होती है, जो स्वभाव में भँवरे-सा अस्थिर और चंचल होता है। बस, समझ की इस गलती में वे भँवरे को दोष दे बैठते हैं। वे यह नहीं सोचते कि मनुष्य जिस बात का दोषी कहा जाता है, भँवरा उसी का दोषी नहीं हो सकता। समाज की रक्षा के लिये मनुष्य के दोष की परिधि बहुत विस्तृत कर दी गई है।

डायना—इसी गुलाब की भाँति मनुष्य भी अपने जीवन में फूलता है या नहीं? गुलाब का खिलना मनुष्य के हृदय में भी खिलने की इच्छा नहीं उत्पन्न करता?

ऐंटीओकस—शासन-सम्बन्धी जटिल समस्याओं से ऊबकर मैं तुम्हारे पास आता हूँ। यह मेरा स्वभाव हो गया है। तुम्हारे समीप आने पर जीवन की सारी अशान्ति मिट जाती है—सरलता का एक नया ही जगत् दीख पड़ता है—दुर्भाग्य के थपेड़ों को भूल जाता हूँ। उफ! शासक होना भी कितना दुःख-मय है—कहीं विद्रोह है, तो कहीं आक्रमण; कहीं सन्धि, तो कहीं विग्रह—सारा जीवन एक प्रकार के यंत्र की भाँति घूमता जाता है—मानों मेरा अपने से कोई सम्बन्ध नहीं—मानों मैं अपना नहीं हूँ। एक बार भी पीछे घूमकर देखने का अवसर नहीं मिलता। जीवन में सुख भी कोई वस्तु है, इसका अनुभव

तो तभी होता है, जब तुम मेरे सामने आती हो, किन्तु इन दिनों मुझे क्या हो गया है! जब कभी देखता हूँ—ऐसी हो गम्भीर बातें छेड़ देती हो—तुम्हारी वह सरलता कहाँ गई? अबोध रहना कितना अच्छा था (डायना के सिर पर हाथ रखते हुए) तेरा यह समय गम्भीर विषयों पर विचार करने का नहीं—तू अपने को इस उलझन में न डाल, निकल न पायेगी—(एक ओर देखकर) जाओ तुम इस समय, मंत्रीजी आ रहे हैं। (डायना का प्रस्थान) मेरी एकमात्र मातृहीना सन्तान! तुझे क्या हो गया?—मैं तो सदैव तुझे सुगन्धि, संगीत और सौन्दर्य से घिरी हुई पाता था; आज तेरे समीप विषाद की एक रेखा दीख पड़ी है, कहीं बढ़ न जाय।

(मंत्री का प्रवेश)

ऐंटीओकस—आप—यहाँ, कहीं विद्रोह या आक्रमण हो रहा है?

मंत्री—नहीं, आपके शासन में विद्रोह की शंका नहीं हो सकती।

ऐंटी०—तब फिर आपके यहाँ तक आने का कारण?

मंत्री—हाँ, कारण है; मैं एक शुभ समाचार लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। मैं इस आनन्द को कुछ समय सँभाल भी न सका—यहाँ तक कि मुझे यहाँ आना पड़ा।

ऐंटी०—तब, यदि आप उसके बोझ से दबे जा रहे हैं, तो कह दीजिये—अन्यथा मुझे डर है कि कहीं आप भूमिका भी समाप्त न कर पायें और बीच ही में मारे बोझ के गिर पड़ें!

मंत्री—आपके जो हाथ रणक्षेत्र में शत्रुओं का संहार करते हैं, मुझे न सँभाल सकेंगे।

ऐंटो०—मेरे हाथ आपको तो अवश्य सँभाल सकते हैं, लेकिन उनपर केवल आप ही का बोझ तो पड़ेगा नहीं। जिस भार से आप दबे जा रहे हैं, आपके साथ वह भार भी तो मेरे ही हाथों पर पड़ेगा।

मंत्री—अच्छी बात है, दोनों आदमी गिरेंगे। .

ऐंटो०—लेकिन मैं तो गिरना नहीं चाहता—आप इतनी दूर से लड़खड़ाते हुए चले आ रहे हैं—यह बोझ आप जल्दी फेंकिये—नहीं तो जबतक आप स्वस्थ नहीं होंगे, मुझपर दोहरी आफत आ जायगी—मंत्रीत्व और सम्राटत्व! मैं तो सम्राटत्व के ही भार से दबा जा रहा था, यह मंत्रीत्व तो मुझे दबा ही डालेगा। अब कहने में देर न कीजिये।

मंत्री—लेकिन कहने पर इसकी मिठास कम हो जायगी!

ऐंटो०—यह तो अच्छा नहीं, मैं तो खड़े-खड़े ताक रहा हूँ, और आप मिठास का मजा ले रहे हैं!

मंत्री—आप भी मजा लेंगे; परन्तु मेरे बाद।

ऐंटी—तब तो वह आपका जूठा हो जायगा।

मंत्री—यही तो सम्राट और मंत्री का अन्तर है। सम्राट को जो कुछ मिलता है, सभी मंत्री का जूठा मिलता है! (खाँसकर) आपको याद है, मैसडन दूत भेजा गया था।

ऐंटी०—(उत्सुकता से) हाँ, उसका क्या हुआ?

मंत्री—देखिये, आप जल्दी कर रहे हैं।

ऐंटी०—मंत्रीजी ! एक पिता का हृदय आपके सामने सूना है ।

मंत्री—बस, बस, सम्राट ! मुझसे भूल हुई । मैसडन के सम्राट ने आपकी डायना का विवाह अपने राजकुमार से स्वीकार कर लिया । उन्होंने लिखा है—यह विवाह बिखरी हुई शक्ति का एकीकरण है ; उससे यूनानी शक्ति एक बार फिर जाग उठेगी । यह सम्राट का पत्र (पत्र देता है) ।

तीसरा दृश्य

तक्षशिला—किले के भीतर एक बड़ा कमरा

(धर्मनाथ एक ऊँचे आसन पर बैठे हैं, नीचे फर्श पर आनन्दमाधव, देवदत्त, उत्कल, शुभ्रवेश, नीलरत्न तथा अन्य कितने सामन्त बैठे हैं । गिरीश धर्मनाथ के ऊपर चमर डुला रहे हैं ।)

धर्म०—इस पवित्र भू-खंड के नर-रत्नो ! आज मेरे कारण आप लोगों को यहाँ तक आने का कष्ट उठाना पड़ा । इसके लिए मुझे बहुत संकोच हो रहा है । किन्तु मैं करता ही क्या, ऐसी परिस्थिति ही आ पड़ी थी ।

नीलरत्न—हमलोगों का यहाँ तक का आना आपके लिए संकोच का कारण नहीं हो सकता ।

आनन्दमाधव—हमलोग सदैव आपके दर्शनों के लिए लालायित रहते हैं । आज आपने हमें स्वयं बुलाया है । इससे बढ़कर गौरव की बात क्या हो सकती है ?

शुभ्रवेश—आपके एक साधारण कार्य का ही बड़ा उद्देश्य होता है।

उत्कल—अभी आपने कहा था, ऐसी परिस्थिति ही आ पड़ी थी। किस महान कार्य की साधना में हमलोगों की तुच्छ सेवा स्वीकार करेंगे ?

धर्मनाथ—सामन्त ! मैं सदैव आप लोगों से ऐसी ही आशा रखता हूँ। किन्तु जिस आशा का स्वप्न मैंने अभी देखा है, वह अपूर्व है—वह केवल इस लोक का नहीं, मानों वह लोक भी इसी में बन्द है। यदि एक बार यह प्रत्यक्ष होती—

गिरीश—जो स्वप्न देखना जानता है, वही उसे प्रत्यक्ष भी कर सकता है—

धर्म०—सामन्तो ! मेरी आशा का सफल वा असफल होना आप ही लोगों पर निर्भर है।

सब—हम लोगों को जा आज्ञा हो, करने को तत्पर हैं।

धर्म०—आज धर्म पर भयंकर विपत्ति पड़ी है, और हम हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं—नास्तिकता का प्रचार बढ़ता जा रहा है—वेदों की असारता प्रमाणित को जा रही है—यज्ञ बन्द किये जा रहे हैं। यदि यही प्रभाव कुछ दिनों तक बढ़ता रहा, तो निस्सन्देह धर्म निर्मूल हो जायगा।

आनन्दमाधव—हमारे हाथ वैसी बातें नहीं। क्यों देवदत्तजी ?

देवदत्त—हाँ, मुझे तो कोई ऐसी आशंका नहीं दीख पड़ती। यज्ञों की सुगन्ध से सारा देश सुगन्धित हो रहा है।

धर्मनाथ—आप लोगों का विचार ठीक है। अभी इस देश में कोई वैसा परिवर्त्तन दीख नहीं पड़ा; किन्तु क्या आर्य-धर्म इसी प्रदेश में घिरा हुआ है? पूर्व के सम्पूर्ण भारत में क्रान्ति हो रही है—शूद्र ब्राह्मणों की श्रेणी में बैठ रहे हैं, ईश्वर और वेदों की सत्ता मिटाई जा रही है। क्या वह क्रान्ति यहाँ न पहुँचेगी?

देवदत्त—तब हमलोग इसके लिए क्या कर सकते हैं? वहाँ तक तो हमारी पहुँच नहीं।

धर्मनाथ—आप लोग वहाँ नहीं पहुँच सकते? किन्तु एक ऐसी शक्ति की सृष्टि कर सकते हैं, जो यहाँ भी पहुँच सकेगी और वहाँ भी। उसका बड़ा अच्छा सुयोग आ पहुँचा है।

शुभ्रवेश—हमारे सिपाहियों ने मगध की सेना को विष्णुपुर, रुद्रग्राम और देववन की तीनों लड़ाइयों में परास्त किया। अब यही अन्तिम युद्ध है, और मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस युद्ध में भी विजय हमारी ही होगी। हमने इस देश को स्वतंत्र कर लिया। अब मगध के राक्षस हम पर मनमाने अत्याचार न कर सकेंगे।

नीलरत्न—हाँ, कैसे कर सकेंगे। वे समझते थे, हममें बल नहीं है। हमने अपनी ही इच्छा से यह भूमि उनके हाथों दे भी दी थी और ले भी ली। हम भी सीख गये—अपनी रक्षा किस प्रकार की जाती है।

धर्मनाथ—(कुछ सहम कर) तो क्या आप लोग इस प्रदेश को मौर्य-शासन से अलग रखना चाहते हैं? क्या आप लोग

एक सार्वभौम शक्ति का संहार कर भारत को टुकड़ों में विभाजित करना चाहते हैं ?

आनन्दमाधव—हम स्वतंत्रता चाहते हैं ।

धर्मनाथ—इसका नाम स्वतंत्रता नहीं—यदि इसे स्वतंत्रता कह सकते हैं, तो इस प्रदेश का प्रत्येक व्यक्ति ऐसी स्वतंत्रता की इच्छा कर सकता है, जिसमें वह स्वयं अपना शासक होकर मनमानी कर सके। इस प्रकार कितनी उच्छृंखलता फैल जायगी। मनुष्य एक दूसरे का अधिकार हड़पने लगेगा। मनुष्य जहाँ जितने ही सामूहिक रूप में शासित होता है, वहाँ उतना ही सभ्यता का विकास होता है। अलग-अलग शैली बनाकर मनमानी करना तो जंगलीपन है। यदि मान लें, इस बार भी आपकी विजय हुई, तो शासन कौन करेगा ?

नीलरत्न—तो हम लोगों पर इसी प्रकार के अत्याचार होते रहें ?

धर्मनाथ—आप लोगों पर अत्याचार राजा के कर्मचारियों ने किया है। यदि राजा को मालूम हो जाय, तो यह भूल जल्दी सुधारी जा सकती है। चन्द्रगुप्त का शासन आप लोगों को भूला न होगा—क्या उसमें भी कोई भूल थी ?

शुभ्रवेश—नहीं, कोई नहीं।

धर्मनाथ—यदि आप लोगों को विश्वास हो जाय कि उसी प्रकार का सुशासन होगा, तब तो मौर्य-शासन में आप लोगों को आपत्ति न होगी ?

उत्कल—किन्तु—स्वतंत्रता—

धर्मनाथ—इस विद्रोह को स्वतंत्रता नहीं कहते। सिकन्दर ने आप लोगों को परतंत्र किया था; परन्तु चन्द्रगुप्त ने स्वतंत्र किया। आप लोगों ने स्वतंत्रता के विरुद्ध शस्त्र उठाया है। जब शासक अपनी ही जाति का, अपने ही आचार-विचार का और अपने ही धर्म का होता है, तब उसके शासन को परतंत्रता नहीं कहते। जिस राज-वंश ने विधर्मी यूनानियों के पंजे से इस देश की रक्षा कर यहाँ आर्य-सभ्यता को जीवित रखा, उसी के विरुद्ध विद्रोह स्वतंत्रता नहीं है। यदि आज भारत टुकड़ों में विभक्त हो जाय, तो कल इसकी जागती हुई सभ्यता सो जायगी; और फिर कभी जागेगी या नहीं—इसमें सन्देह है। आप लोगों के स्वार्थ से—आप लोगों के सुख से—इस सम्पूर्ण आर्य-जाति का स्वार्थ और सुख कहीं अधिक गुरुतर है। यदि आप लोगों का स्वार्थ कोटि-कोटि आर्यों के स्वार्थ का विरोधी होगा, तो उस समय भारत के लिए, आर्य-जाति के कल्याण के लिए, आप लोगों को अपना स्वार्थ छोड़ना ही होगा।

सब—हाँ—ठीक—तो—यही—है।

धर्मनाथ—यदि यही ठीक है, तो आप लोग जिस आर्य गौरव का संहार करने जा रहे हैं, उसे और गौरवमय करने का प्रयत्न कीजिये। सहस्रों वर्षों के बाद यह एक सार्व-भौम शासन भारत में स्थापित हो सका है, और इसमें बिखरे हुए आर्य-जीवन का एकीकरण हुआ है। इस शासन के विरुद्ध शस्त्र उठाना आर्य-आदर्श के विरुद्ध है। इस महान शक्ति

ने जो कुछ किया है, भविष्य में उससे कहीं अधिक कर सकेगी, जिसे एक बार सारा संसार विस्मय की दृष्टि से देखेगा।

आनन्दमाधव—तो आपकी क्या आज्ञा है ?

धर्मनाथ—आज्ञा नहीं, मैं केवल राय दे सकता हूँ—या आप सभी लोग मेरी राय जानना चाहते हैं ?

सब—हाँ, हम सभी चाहते हैं, और उसे हम सभी अपने सिर-आँखों पर उठा लेंगे।

धर्मनाथ—आप लोग जानते होंगे, राजकुमार अशोक मेरे —नहीं—आपके अतिथि—

उत्कल—हाँ, हम जानते हैं, कुमार आज-कल आपकी शरण में हैं।

धर्मनाथ—मेरी—नहीं—आपकी शरण में हैं। मैं भी आप ही की शरण में हूँ। मुझे राजकुमार के आने का समाचार पहले ही ज्ञात हुआ था। मैंने सोचा, राजकुमार का यहाँ आना पतंग का आग में पड़ना है। इसी विचार से मैंने आगे बढ़कर राजकुमार की रक्षा की। अशोक आया है यहाँ विद्रोह शांत करने—किन्तु अकेले। उसके साथ सेना नहीं है, हाथी नहीं हैं, घोड़े नहीं हैं, यहाँ तक कि एक नौकर भी नहीं है। केवल आपलोगों की महत्ता का विश्वास कर, और यह सोचकर कि जिस समय वह आप लोगों के सामने खड़ा होकर अपनी असावधानी का अपराध स्वीकार करते हुए सुशासन का वचन देगा उस समय आपलोग अपनी तलवारें म्यान में रख लेंगे। संसार के इतिहास में यह एक अपूर्व बात होगी। विद्रोह

शान्त करने के इस उपाय की कल्पना संसार ने कभी भी नहीं की थी।

गिरीश—राजकुमार! अच्छा तो तब वही हो। हमलोग कुछ न कर अशोक की अधीनता स्वीकार कर लेवें।

आनन्द—किन्तु सुशासन का वचन मिलना चाहिये।

नीलरत्न—हाँ, तभी तो हो सकता है।

धर्मनाथ—हाँ, आप लोगों पर सुशासन होगा। आप लोगों ने इस त्याग द्वारा धर्म को गिरने से बचा दिया।

चौथा दृश्य

तक्षशिला की एक सड़क

(चार-पाँच नागरिक आपस में बातें कर रहे हैं)

पहला—आज नगर में बड़ी सजधज देख पड़ती है!

दूसरा—हूँ—ससुराल में बहुत दिनों से पड़े थे!

पहला—इसमें ससुराल की बात कहाँ से आ गई?

दूसरा—अजी सुनो, ससुराल में लोग सारी दुनिया को भूल जाते हैं, उनको तो पेट-पूजा से ही छुट्टी नहीं मिलती। हाँ, कभी-कभी दाँत निकालकर ससुरजी की तरफ देख लेते हैं—कहाँ क्या हो रहा है, इसका पता भी उन्हें नहीं चलता। तुम इस सजधज को कौतुक की दृष्टि से देख रहे हो; इसी से समझा, शायद ससुराल में पड़े थे।

पहला—तुम ऐसा ही अंटसंट बकते हो।

दूसरा—अच्छे मिले—ससुराल मे जबान तेज करो तुम, और अंटसंट बकूँ मैं ? अफीम की मेकदार बढ़ा दो है क्या ?

पहला—फिर वही ससुराल और अफीमवाली बात ? अगर फिर कहा तो अच्छा न होगा।

तीसरा—अजी भाई, क्यों लड़ते हो ? ससुराल में पड़ा रहना कोई बुरा थोड़े है !

पहला—वाह, बुरा क्यों नहीं है, कोई भलामानस कहीं ससुराल में भी रहता है ?

दूसरा—तो क्या तुम भी अपने को भलामानस समझते हो ?

पहला—नहीं तो क्या तुम्हारे घर डाका डाला है ?

दूसरा—अरे बाबा, मेरे घर न सही, अपने ससुर के घर डाला है न ? (सब हँस पड़ते हैं)

चौथा—अच्छा, सुनो, मैं कहता हूँ। बूढ़े विष्णु और भोले भूतनाथ भलेमानस हैं कि नहीं ?

तीसरा—वे कैसे भलेमानस होंगे—वे आदमी थोड़े ही हैं ? यही कहने चले थे ?

चौथा—अरे बाप रे ! यहाँ तो एक से बढ़कर एक विधाता हैं !

दूसरा—एक विधाता ने ऐसी दुनिया बनाई, जिसके लोग ससुर के घर डाका डालते हैं। अगर इतने भी विधाता एक साथ पैदा हो जायँगे, तो भला क्या होगा (तीसरे से) क्यों जी, कुछ सोच सकते हो ?

तीसरा—नहीं भाई, मैं तो कुछ भी नहीं सोच सकता—

(दूर पर बाजा बज उठता है)

पहला—भाई, देखो मैं तो तीर्थ करने गया था। वर्षों के बाद कल लौटा हूँ। इसलिये यहाँ की कोई बात नहीं जानता। यह कैसा बाजा बज रहा है ?

दूसरा—तुम तीर्थ करने गये थे, यह तो हम लोग देख नहीं सकते। लेकिन हाँ, आज राजकुमार अशोक नगर-भर में लहँगे और साड़ियाँ बाँटेंगे—उसी खुशी में बाजा बज रहा है! मगर उनके लेनेवाले केवल पुरुष ही होंगे, और वे उन्हें पहनकर दरबार में नाचा करेंगे।

पहला—नाचा करेंगे ? यह क्या ! पागल तो नहीं हो गये हो—पुरुष साड़ी पहनकर नाचेंगे ?

दूसरा—हाँ, नाचेंगे—नहीं तो और क्या करेंगे, कुछ तो करना ही चाहिये ?

पहला—भाई, मैं तो नहीं नाचूँगा—मेरा धर्म जायगा।

चौथा—न नाचोगे, तो तुम्हें चूड़ियाँ पहनाई जायेंगी।

तीसरा—(एक ओर उँगली उठाकर) क्यों जी, वह कौन आ रहा है—जैसे कि कोई पागल हो ?

चौथा—हाँ, पागल ही तो मालूम हो रहा है। अकेले इधर-उधर घूमकर न मालूम क्या बड़बड़ा रहा है !

दूसरा—(उधर देखकर) अरे बाप रे ! भागो, भागो,

अशोक ने उसे लहँगा बाँटने के लिये नियुक्त किया है। कहीं सबसे पहले हमी लोगों को नाचना न पड़े।

(पहले को छोड़कर सभी का प्रस्थान)

(धर्मनाथ का प्रवेश)

धर्मनाथ—आज अशोक का अभिषेक है। विन्दुसार के जीते-जी अशोक को राजा बनाया, इसी में धर्म का कल्याण था। सफलता की यह प्रथम किरण है। क्या कभी इसका पूर्ण प्रकाश होगा ? होगा—और अवश्य होगा—अन्यथा यह विद्रोही इतनी सरलता से क्यों मानते।

पहला नागरिक—(समीप जाकर) सरकार, मुझे लहँगा-साड़ी न दीजियेगा—मैं कल तीरथ से लौटा हूँ, नाचने से मेरा धर्म जायगा।

धर्म०—क्या कहा, तुझे कौन लहँगा-साड़ी दे रहा है ?

नागरिक—सरकार, मैंने सुना है, आप आज लहँगा-साड़ी बाँटेंगे, और पुरुषों को वही पहनकर नाचना पड़ेगा।

धर्म०—(खीझकर) तुमसे किसने कहा ? जाओ यहाँ से।

(पहले नागरिक का प्रस्थान)

पाँचवाँ दृश्य

बैक्ट्रीया का राजमहल

(चाँद की ओर देखकर वायना गा रही है)

आजु हिमकर बिहँसत घन पार।
सन-सन करत समीर सुरभि-मय।
कूकत कोकिल निपट ललित लय॥

फूलि उठे सखि देखु विटप-चय।
करहिं भँवर गुंजार।
आजु हिमकर० ॥
झुकि-झुकि जाति लता छन-छन में।
रुकि-रुकि जाति किरन उपवन में ॥
कहि न जात जो उपजत मन में।
अगनित नखत-बिहार ॥
आजु हिमकर० ॥

डायना—लोग गाते क्यों हैं? मानों मनुष्य की आत्मा और हृदय में संगीत छोड़कर और कुछ है ही नहीं। जिस समय सारा संसार एक ओर होता है—और अकेला मनुष्य एक ओर, उस समय यही संगीत हृदय की इस प्यास को बुझाने का प्रयत्न करता है। (कुछ सोचकर) कोयल गाती क्यों है? क्या उसके हृदय में भी कोई प्यास होती है? उसका उन्मुक्त संगीत इस भूलोक से उठकर किसी अज्ञात लोक को चला जाता है—और फिर लौटता नहीं मानों वह प्रियतम के सामने खड़ी होकर अपने हृदय के आवेग की पुनरावृत्ति करती है। जीवन की तपती हुई रेती में संगीत सुधा-सरिता होकर बह उठता है! वह अभी नहीं आये—देर हुई। अबतक तो आ जाया करते थे! वह मुझे पढ़ाने आते हैं, मैं पढ़ती हूँ—पिताजी को कोई दूसरा शिक्षक नहीं मिला? कदाचित् आज न आयेंगे। (प्रस्थान)

(ऐंटीपेटर का प्रवेश)

ऐंटीपेटर—(डायना को न देखकर) उसकी पढ़ने की इच्छा नहीं। कुछ पूछता हूँ, उत्तर नहीं देती। सम्राट ने मुझे किस बन्धन में डाल रखा है। अब न आऊँगा। न आना ही अच्छा है। मुझ माता-पिता के भिखारी को ही सम्राट ने पुत्र-सा पाला—मैं इस ऋण से उऋण नहीं हो सकता। मैं अपना यह जीवन सम्राट की सेवा में व्यतीत करूँगा—किन्तु यही केवल काम नहीं कर सकता। मैं कल सम्राट से कह दूँगा—डायना मेरे पढ़ाये नहीं पढ़ सकती। मुझे कोई दूसरा काम मिलना चाहिये। मेरा जीवन निराशा की लम्बी कहानी रहा है—उसके भीतर यह एक भाँति की मादकता कहाँ से आ गई। (कुछ सोचकर) यह आशा नहीं, इसका नाम दुराशा है। डायना और मैं, दोनों दो लोकों के विभिन्न जीव हैं—उनका सम्मेलन हो ही नहीं सकता। मुझे उसकी ओर देखने का भी अधिकार नहीं है—जिस दिन मैं उसे उस दृष्टि से देखूँगा, उसी दिन विधाता का विधान उलट जायगा, संसार अपने पुराने अभ्यस्त पथ को छोड़कर नया ही रास्ता पकड़ लेगा। डायना मुझसे पढ़ना नहीं चाहती—इसीमें मेरा कल्याण है। अब मैं यहाँ ठहर नहीं सकता।

ऐंटीपेटर का उद्विग्न होकर उठना—

(इतने ही में डायना का प्रवेश)

डा०—क्यों, तुम चले कहाँ, क्या मुझे पढ़ाओगे नहीं ?

ऐंटी०—नहीं, मैं तुझे पढ़ा नहीं सकता—मैं कितनी देर से यहाँ आया हूँ।

डायना—(हँसकर) अच्छा ही हुआ। तुम्हें भी मालूम हुआ कि प्रतीक्षा कितनी मीठी होती है—मैं भी देर तक तुम्हारी प्रतीक्षा कर चली गई थी।

ऐंटी०—तुम जिस बात पर हँस रही हो, वही बात मेरे रोने की हो सकती है! सच तो यह है कि तुम तो न मुझसे पढ़ना ही चाहती हो, न मैं तुम्हें पढ़ाना ही—यह उलझन अच्छी नहीं।

डायना—अब यदि मुझे कोई भी पढ़ा सकता है, तो वह तुम्हीं हो।

ऐंटी०—तुम मेरा उपहास कर रही हो, नहीं तो संसार में शिक्षकों की क्या कमी है; और वह भी तुम्हारे लिए?

डायना—संसार में शिक्षकों की कमी नहीं। पर मेरे लिए तुम्हीं शिक्षक हो। उस आसन पर मैं किसी दूसरे को नहीं बैठा सकती।

ऐंटीपेटर—राजकुमारी! यह तुम्हारी उदारता है—तुम मेरी इस दीनता पर तरस खाती हो—मेरे लिए सबसे बड़ा सुख यही है।

डायना—तुम दीन हो! यदि किसी के हृदय का सम्राट होना सारे संसार के सम्राट होने से बढ़कर है, तो तुम सबसे बड़े सम्राट हो!

ऐंटी०—किन्तु मैं किसके हृदय का सम्राट हूँ?

डायना—मेरे—

ऐंटी०—(आश्चर्य से) तुम्हारे !

डायना—हाँ, मेरे—अब इस भाव को मैं दबा नहीं सकती। यह साधना मेरे भीतर बहुत दिनों से चल रही थी। आज समाप्त हुई। इतने दिनों से तरंगों पर तैरती चली आ रही थी—आज नीचे चली जा रही हूँ, देखूँ, कितना जल है! अब तैरने की शक्ति नहीं रही। मैं डूबना ही चाहती हूँ, कोई बचा नहीं सकता।

ऐंटीपेटर—अबोध ! मैसडन का राजकुमार तुमसे परिणय करने के लिए पागल हो रहा है, और तुम चाहती हो एक भिखारी को !—जिसके विषय में कोई इतना भी नहीं जानता कि उसका जन्म कहाँ हुआ। मुझसे प्रेम कर अपना सर्वनाश न करो—तुम सम्राज्ञी होओगी—और उस समय तुम्हें इस दशा पर हँसी आवेगी।

डायना—यह मेरा सर्वनाश है?—तो वही हो—इस सर्वनाश में जितना सुख है, उसका अनुभव तुम नहीं करते। मेरे शिक्षक ! मैं ऐश्वर्य और वैभव को नहीं—तुम्हें प्यार करती हूँ, और यही मेरी चरम गति है। याद आती है वह अर्ध-रात्रि, उन लाखों-करोड़ों नीरव तारों के बीच तुम ज्वर के आवेग में अचेत पड़े थे। मैंने तुम्हें देखा, मेरे हृदय की नीरव वीणा बज उठी—मुझे विश्वास हो गया, तुम मेरे अनन्त जीवन के प्रियतम हो—(गला रुँध जाता है)

ऐंटीपेटर—यह क्या ! तुम रो रही हो ! यह कैसा दृश्य है—मैं भी मनुष्य हूँ, दुर्बल हाड़-मांस का बना मनुष्य हूँ, अपने को अधिक रोक नहीं सकता। बादल टकराते हैं, बिजली चमक जाती है। समीर नीर को धक्के देता है, लहरें उठ पड़ती हैं—दो ओर से प्रेम का ज्वार आता है, और—
(डायना के ओठ चूम लेता है)

(ऐंटीओकस का प्रवेश)

ऐंटीओकस—ऐंटीपेटर—डायना ! जानते हो ऐंटीपेटर, इसका दण्ड क्या होगा ?

ऐंटीपेटर—हाँ, जानता हूँ—मृत्यु !

ऐंटीओकस—तो वही हो (तलवार खींचकर) फिर इसके लिए किसी जल्लाद की आवश्यकता नहीं है—तुम्हें मरना ही होगा—

ऐंटीपेटर—तैयार हूँ सम्राट् ! दंड दीजिये—
(घुटने टेककर सिर झुका देता है)

डायना—पिताजी ! मैंने भी वही अपराध किया—

ऐंटीओकस—(कुछ सोचकर) जाओ ऐंटीपेटर, मैंने तुम्हें क्षमा किया; किन्तु अब कभी मेरे सामने न आना।

ऐंटी०—तो सम्राट मुझे देश-निकाले का दंड दे रहे हैं !

ऐंटीओकस—हाँ वही समझो—जिसे मैंने आज तक अपने पुत्र की भाँति माना था, इस देश में रहते हुए वह मेरे सामने कभी न आवे—यह सम्भव नहीं। मैंने तुम्हें देश निकाले का दंड दिया है। समझे ? अच्छा, जाओ। (ऐंटीपेटर का प्रस्थान)

ऐंटीओकस—डायना ! तुमने क्या किया ?

(डायना चुप रहती है, पर्दा गिरता है]

छठा दृश्य

पाटलीपुत्र-राजभवन

(प्रातःकाल—विन्दुसार अकेले बैठे हैं—

समीप ही अरुण एक चित्र देख रहा है)

विन्दुसार—वही तो, अशोक की विजय हुई ! यह विजय कितनी नई है—एक बूँद रक्त भी पृथ्वी पर नहीं गिरा और अशोक की विजय हुई ! विद्रोहियों ने हृदय खोलकर उसका स्वागत किया। उन्होंने तक्षशिला के उस भरे दरबार में कह दिया—'हम विन्दुसार को नहीं चाहते, हम चाहते हैं अशोक को !' मानों विन्दुसार का मूल्य उनकी दृष्टि में अशोक से भी कम है ! अशोक आज सारे पश्चिमीय भारत का सम्राट बन बैठा। मैं अभी जीवित हूँ। उसने मुझसे एक बार पूछने की भी आवश्यकता नहीं समझी।

अरुण—बाबा यह सच है !

विन्दुसार—क्या सच है ?

अरुण—यही कि काकाजी ने अकेले सबको जीत लिया !

विन्दुसार—हाँ, यह सच है कि तुम्हारे काका ने अकेले सबको जीत लिया।

अरुण—यह कैसे हो सकता है—एक आदमी ने सबको जीत लिया—

विन्दुसार—(कुछ अन्यमनस्क होकर) यही तो—यह कैसे हो सकता है; परन्तु हुआ है यही।

अरुण—तुम भी जब अशोक की तरह बड़े होगे, तो जीत लोगे, और मैं—नहीं, मैं क्या जीतूँगा।

विन्दु०—अशोक ने कैसे जीत लिया—जाओ खेलो—

अरुण—जाता हूँ, परन्तु यह सोचियेगा कि कैसे जीतूँगा।

(प्रस्थान)

विन्दुसार—अशोक की विजय हुई, इससे मुझे आनन्द होना चाहिये; किन्तु इसके विपरीत मेरे भीतर यह कैसा प्रलय हो रहा है। अशोक का इतना साहस—वह मेरे जीते ही सम्राट हो जावे? किन्तु मेरा उससे सम्बन्ध! मैंने जानकर उसे सर्वनाश के मुख में ढकेल दिया था, विधाता उसके अनुकूल था, भवितव्य के पर्वत को पैरों से ठेलकर निकल गया (मूठियाँ बाँधकर ऊपर देखता है)

(चन्द्रसेन का प्रवेश)

चन्द्रसेन—सम्राट!

विन्दुसार—(आवेश के साथ) कहिये, क्या कहना है।

चन्द्रसेन—राजकुमार अशोक ने विद्रोहियों को दबा कर मौर्य-शक्ति को ऊपर उठाया है। साम्राज्य में उत्सव होना चाहिये।

विन्दुसार—हम उत्सव क्यों करें?

चन्द्रसेन—आपकी इतनी महान् विजय हुई! क्या उत्सव की बात नहीं है—यदि ऐसे अवसरों पर भी उत्सव न हो, तो उत्सव होगा कब?

बिन्दुसार—मेरी नहीं—विजय हुई है अशोक की ! मेरे जीते-जी अशोक पश्चिम का सम्राट् बन बैठा, इससे मेरा गौरव बढ़ा नहीं—घट गया है।

चन्द्रसेन—संसार जानता है, अशोक ने आपकी आज्ञा से वहाँ का शासन स्वीकार किया है। इससे आपका गौरव घट नहीं सकता।

बिन्दुसार—संसार चाहे जो जाने; परन्तु मैं जानता हूँ, अशोक मेरी आज्ञा का पालन नहीं करता।

चन्द्रसेन—यह सच है सम्राट ! एक बात पूछना चाहता हूँ। उत्तर मिलेगा ?

बिन्दुसार—हाँ, अवश्य मिलेगा। मैं जो कुछ करता हूँ, पूरे साहस के साथ करता हूँ।

चन्द्रसेन—हूँ ! पिता का जो भाव अपने पुत्र के प्रति होता है, वह आपका अशोक के प्रति नहीं है। आप अशोक के प्रति स्पर्धा का भाव रखते हैं। क्या यह सच नहीं सम्राट ?

बिन्दुसार—यह आपने कैसे जाना ?

चन्द्रसेन—बुरा न मानियेगा। मनुष्य सारे संसार को भ्रम में नहीं डाल सकता। अशोक ने आपके व्यवहार से मर्माहत होकर उस भयंकर विपत्ति का द्वार खटखटाया था—नहीं तो वह बालक यों ही उस अग्नि में कूद नहीं पड़ता। आपको उस पर दया नहीं आई। आपने मुझसे कहा था, अशोक अपनी इच्छा से अकेले जा रहा है; किन्तु सच तो यह है कि वह आपकी इच्छा से अकेले गया था। आपने अपनी ही सन्तान

को अपने ही रक्त-मांस से बने हुए बालक को—जिसे अपने हृदय के सारे सुखों से घेरकर रखना चाहिये था—इतनी सरलता से मृत्यु के मुख में फेंक दिया ! आपने क्या कभी इस पर विचार नहीं किया ?

विन्दुसार—मंत्री ! तुम्हारा इतना साहस ? जो कहता हूँ, करते चलो। तुम्हें अधिकार नहीं कि मेरे कामों में तर्क कर सको !

चन्द्रसेन—अधिकार है। जबतक संसार मुझे इस पद पर देखता है, मुझे अधिकार है। इस पापी पेट की ज्वाला इतनी प्रबल नहीं जो मुझसे सत्य की हत्या करा सके। काल के इस अनन्त प्रवाह में मेरा जीवन सागर के एक बुल्ले के बराबर भी तो नहीं है। इतने-से जीवन पर सत्य की आराधना नहीं छोड़ सकता। मुझे आपको नहीं, (ऊपर हाथ उठाकर) उन्हें प्रसन्न करना है। (अपनी पगड़ी उतारकर) आपका यह दान आपके चरणों में है (विन्दुसार के चरणों पर पगड़ी फेंक देता है)। आज मैंने इस पद का त्याग किया। यह स्वतंत्रता—

(पर्दा गिरता है)

सातवाँ दृश्य

काँधार की सीमा पर एक जंगल

(दो घड़ी दिन शेष; पहाड़ी झरने के समीप एक घोड़ा हरी घास चर रहा है—घोड़े की बाग पकड़े ऐंटीपेटर उसी के तीर पर बैठा है)

ऐंटीपेटर—पार कर डाला—यूनानी राज्य की सीमा

को—पार कर डाला ! किन्तु अब आगे कहाँ जाना है। (कुछ सोचकर) सम्राट का दण्ड पूरा हुआ, कोई चिन्ता नहीं, कहीं चला जाऊँगा। उसने पत्र में लिखा था—'भूल न जाना', यही उसका सारा पत्र है; किन्तु इससे अधिक लिखा ही क्या जा सकता है। भाव-साम्राज्य में कौन-सी बात इससे अधिक हृदय को हिलानेवाली है—उसे भूल जाना; और इस जीवन में जिस बात की मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकता, वही उसने क्यों लिखा।

(एक शेर के पीछे घोड़े पर चढ़े अशोक का प्रवेश। शेर का घूमकर आक्रमण करना— अशोक का वार खाली जाना। इतने ही में ऐंटीपेटर के तीर से शेर का घायल होकर गिरना)

अशोक—(घूमकर ऐंटीपेटर को धनुष खींचे हुए देखकर) कौन हो तुम—वीर ! तुमने मुझे आज मृत्यु के मुख से बचा लिया। मेरी रक्षा करने के लिए स्वर्ग से उतरे हुए देवदूत तो नहीं हो ?

ऐंटीपेटर—नहीं सैनिक ! देवदूत नहीं, मैं एक साधारण मनुष्य हूँ।

अशोक—मैं तुम्हारा पूरा परिचय चाहता हूँ। तुमने आज मेरे जीवन की रक्षा की है। देखूँ, उसका कुछ बदला—

ऐंटीपेटर—बदला ! सैनिक, मैंने तुम्हारे जीवन की रक्षा की है। यह मनुष्यता का कर्त्तव्य है। इसका कुछ बदला नहीं हो सकता।

अशोक—हाँ सच है, इसका बदला नहीं हो सकता; किन्तु परिचय—परिचय न देने से लाभ ?

ऐंटीपेटर—परिचय न पूछो सैनिक ! संसार में सभी कार्य लाभ ही के लिए नहीं होते। कुछ कामों का सम्बन्ध केवल मनुष्य की आत्मा और हृदय से होता है। मैंने तुम्हारी रक्षा की है, इसका सम्बन्ध केवल मेरे हृदय से है, और उसी हृदय की टूटी हुई तार है, जो कह रही है—परिचय न दो। और मेरा परिचय ? उसे तो मैं भी नहीं जानता सैनिक—मैं कौन हूँ।

अशोक—राजकुमार अशोक तुमसे प्रार्थना करता है; अपना परिचय दो।

ऐंटी०—पश्चिमीय भारत का शासक, राजकुमार अशोक ?

अशोक—हाँ, वही अशोक !

ऐंटीपेटर—(हँसकर) राजकुमार ! मैं एक धूमकेतु हूँ। संसार नहीं जानता, मैं कहाँ से आया और कहाँ जा रहा हूँ।

अशोक—मेरे प्रिय बन्धु ! अपने परिचय की दार्शनिक व्याख्या न करो। एक कृतज्ञ जिज्ञासु का हृदय तुम्हारे सामने खुला है ! उसकी प्यास मृग-जल से नहीं मिट सकती।

ऐंटीपेटर—मैं एक ग्रीक हूँ। उस पवित्र भूमि के दर्शन को आ रहा हूँ, जहाँ सम्राट सिकन्दर की लालसा का अन्त हुआ था।

अशोक—वीरवर ! उसी पवित्र भूमि ने मुझे गौरवमय किया है। मैं वहाँ का शासक हूँ।

ऐंटीपेटर—तुम धन्य हो राजकुमार !

अशोक—(ऐंटीपेटर का हाथ पकड़कर) चलो आशातीत अतिथि ! वह पवित्र भूमि उत्सुक नेत्रों से तुम्हारी राह देख रही है। मेरे जीवन के इतिहास में यह दिन कितने महत्त्व का हो गया !

आठवाँ दृश्य

पाटलीपुत्र—गंगातट

(समय—संध्या; विन्दुसार और भवगुप्त)

विन्दुसार—कितना दुःसाहस है ! भवगुप्त ! तुम्हें युद्ध के लिए तैयार रहना पड़ेगा। अशोक की बढ़ती हुई लालसा कहीं पाटलीपुत्र की ओर न घूम पड़े। तुम मेरे बड़े लड़के हो, यह साम्राज्य तुम्हारा है। अशोक तो इसकी ओर देख भी नहीं सकता। और, यदि देखेगा, तो पिता होने पर भी मुझे उसकी आँखें निकालनी पड़ेंगी। यह न्याय का पथ है। इस पर अपने और पराये का विचार नहीं होता। अशोक ने अपराध किया है, मैं उसे दण्ड दूँगा।

भवगुप्त—किन्तु, अशोक को—दण्ड—

विन्दुसार—तुम इस चिन्ता में न पड़ो। जो कहता हूँ, करते चलो। अशोक को दण्ड देने की चिन्ता जितनी मुझे है, उतनी किसी को न होगी। मैं राजा हूँ, और अशोक विद्रोही। जो राजा विद्रोही को दण्ड नहीं देता, उसका कर्त्तव्य पूरा नहीं होता।

भवगुप्त—तो क्या इसके लिए मुझे अशोक से युद्ध करने जाना होगा ?

विन्दुसार—हाँ, जाना होगा—सभी बातों की एक सीमा होती है। अशोक के दुःसाहस ने तो, बहुत दिन हुए, अपनी सीमा पार कर दी; और आज मेरा धैर्य भी अपनी सीमा पार कर रहा है। यही युद्ध का अवसर है। अब देर नहीं हो सकती। युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

भवगुप्त—युद्ध करना सबका काम नहीं है—मैं युद्ध के लिए अपने को अयोग्य पाता हूँ। और फिर भी वह युद्ध अशोक के साथ ! मैं युद्ध में उससे पार नहीं पा सकता।

विन्दुसार—कायर ! क्षत्रिय-सन्तान होकर तुम अपने को युद्ध के अयोग्य समझते हो ? भीरु ! अशोक की शक्ति तुम्हारे लिए असीम है। अच्छा, तुम न जाओ, मैं जाऊँगा।

भवगुप्त—क्षत्रियों का काम केवल रक्तपात ही नहीं—भगवान् शाक्य मुनि भी तो क्षत्रिय थे।

विन्दुसार—(आश्चर्य से) भगवान् शाक्य मुनि ! यह मेरा दुर्भाग्य है; एक पुत्र विद्रोही हुआ, दूसरा नास्तिक।

भवगुप्त—कितनी विषमता है ! जो ईश्वर के जीवों पर दया करते हैं, वे नास्तिक कहे जाते हैं और जो उसका संहार करते हैं, वे आस्तिक। क्या उस ईश्वर को यह रक्तपात अच्छा लगेगा ?

विन्दुसार—तुम भी मेरा विरोध कर रहे हो।

भवगुप्त—आपका नहीं, आपके इस विचार का।

(विन्दुसार क्रोध की दृष्टि से भवगुप्त की ओर देखने लगते हैं; इतने ही में संन्यासी के वेश में धर्मनाथ और गिरीश का प्रवेश)

गिरीश—महात्मन्! यह सम्राट विन्दुसार और यह राजकुमार भवगुप्त हैं।

विन्दुसार—ब्राह्मण-देव! (झुककर प्रणाम करता है) प्रणाम करो कुमार!

(भवगुप्त धर्मनाथ का चरण पकड़ता है)

धर्मनाथ—(कुमार को उठाकर) तुम यशस्वी हो सम्राट! और कुमार, तुम्हारी विजय हो। सम्राट ने मुझे किस लिए यहाँ बुलाया था। क्या मुझ विरक्त से भी साम्राज्य की कोई सेवा हो सकती है?

विन्दुसार—महात्मन्! संसार में जितने ही महान् कार्य हुए हैं, वे सभी विरक्तों ही के द्वारा तो हुए हैं। कम-से-कम भारतवर्ष के इस अक्षय गौरव के निर्माण का श्रेय तो केवल विरक्तों को ही है। यह साम्राज्य भी क्या विरक्त चाणक्य की लीला नहीं है? आपको इस यात्रा में कष्ट हुआ होगा।

धर्मनाथ—यह राजाज्ञा थी, इसका पालन न करना मेरे लिए अधर्म होता। और फिर, हम संन्यासियों को यात्रा से छुट्टी कहाँ? हम एक स्थान पर स्थिर रहकर धर्म की कोई उचित सेवा नहीं कर सकते।

(कुछ सिपाहियों का प्रवेश)

बिन्दुसार—(सिपाहियों को देखकर) अँधेरा हो चला। चलिये, चलें। (गिरीश को छोड़ सबका प्रस्थान)

गिरीश—मैं किधर जा रहा हूँ, कुछ समझ में नहीं आता ! धर्म का कल्याण होगा, यही गुरुदेव कहते हैं। संसार में मैंने क्या होकर प्रवेश किया था और क्या होकर निकलूँगा ? यह यात्रा बड़ी भारी है ; अभी तो थोड़ी ही दूर आया हूँ। चलना तो पड़ेगा ही, फिर चिन्ता कैसी।

(नेपथ्य में गाना सुनाई पड़ता है)

जगत से किसका क्या नाता।
जो आता है यहाँ खेलकर कुछ दिन फिर जाता ॥
भाई-बन्धु, सखा-परिजन, पुर, यह न कहीं कुछ तेरा ॥
जाना पथिक तुझे उस जग को, उठ अब निकट सवेरा ॥
वही हँसाता—हँस देते हो, रोते—वही रुलाता।
अरे मूढ़ ! तब 'यह तेरा, यह मेरा' तू क्यों गाता ॥

[यवनिका पतन]

दूसरा अंक

पहला दृश्य

सिन्धु-नद का किनारा

(समय—सन्ध्या ; ऐंटीपेटर अकेले एक ऊँचे स्थान पर बैठा है, समीप ही कुछ खीमे गड़े हुए हैं)

ऐंटीपेटर—कितना सुन्दर यह देश है ! मानों एक खिला हुआ सौन्दर्य है—एक गूँजता हुआ संगीत है—एक जागता हुआ प्रकाश है—मानव-गौरव की एक कहानी है, जिसका कोई अन्त नहीं—प्रेम की एक कल्पना है, जिसका कोई परिणाम ही नहीं—आनन्द की एक पहेली है, जिसका कोई अर्थ नहीं। नदियाँ बहती हैं—कितनी निराली चाल से—कितना मन्थर, कितना शिथिल और कितना गम्भीर इनका प्रवाह है—मानों इनके भीतर उच्छ्वास ही नहीं। इनका स्वर कितना मार्मिक है—ज्ञात होता है, किसी के अवधि-विहीन विरह में यही करुण कहानी ये अनन्त काल से कहती चली आ रही हैं। कितना प्रशान्त है यह सम्पूर्ण वातावरण ! कदाचित् यही शान्ति का तपोवन है (कुछ सोचकर) वह विचार हृदय में अब क्यों उठता है, मेरे इस जन्म की मादकता के भीतर वही ध्वनि आज भी क्यों गूँज रही है। मेरे हृदय से वह कमल उखड़ गया ; किन्तु उसकी जगह अब भी बनी हुई है—जबतक हृदय है, मिट नहीं सकती। (दोनों हाथों से मुख छिपा लेता है)

(अशोक का प्रवेश)

अशोक—(ऐंटीपेटर को हाथों से मुख छिपाये देखकर विस्मय के साथ) अनन्त !

(ऐंटीपेटर उसी भाँति स्थिर रहता है ; कुछ उत्तर नहीं देता)

अशोक—अनन्त !

ऐंटीपेटर—(शीघ्रता से घूमकर) कहिये राजकुमार, क्या आज्ञा है ?

अशोक—आज्ञा नहीं, मित्र, आज दिन में तुम एक बार भी मुझसे नहीं मिले, यही देखने आया था कि तुम यहाँ क्या कर रहे हो।

ऐंटीपेटर—कुछ नहीं राजकुमार, यों ही बैठा था।

अशोक—यों ही तो नहीं बैठे थे—जैसे किसी गम्भीर-विचार-परम्परा में पड़े थे। मैंने तुम्हें एक बार बुलाया ; किन्तु तुम उसे सुन न सके।

ऐंटी०—क्षमा कीजियेगा, राजकुमार, मैं सुन न सका।

अशोक—मुझे लज्जित न करो, मित्र ! जब तुम क्षमा माँगते हो, तो मुझे बड़ी लज्जा मालूम होती है—तुमने जो मेरा महान् उपकार किया, उसे तुम्हारे 'लाख अपराध भी मिटा नहीं सकते।

ऐंटीपेटर—राजकुमार ! जिसे आप महान् उपकार समझते हैं, उसे मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, उसी को बार-बार दुहराकर आप भी तो मुझे लज्जित करते हैं।

(हँस पड़ता है)

अशोक—क्यों मित्र, एक बात पूछूँ, बताओगे ? (समीप

जाकर ऐंटीपेटर का हाथ पकड़ता है, फिर सिर पर हाथ रखकर) अरे यह क्या, तुम्हें तो ज्वर चढ़ा है ?

ऐंटीपेटर—मुझे ?

अशोक—हाँ, तुम्हें ! क्या कुछ पता नहीं चलता ?

ऐंटीपेटर—नहीं राजकुमार, मुझे तो ऐसा कुछ नहीं मालूम हुआ।

अशोक—(आग्रह से) छावनी में जाओ, अभी वैद्य लिवाकर आता हूँ।

(ऐंटीपेटर का प्रस्थान)

अशोक—कुछ समझ में नहीं आता, इस ग्रीक युवक का चरित्र कितना जटिल और कितना मधुर है। इसकी आँखों में एक अव्यक्त वेदना देख पड़ती है। हँसता बहुत कम है; किन्तु जब कभी हँस देता है—मानों एक सोती हुई जलन जाग उठती है—एक थमती हुई रागिनी चल पड़ती है—एक बैठती हुई लहर उभर जाती है। जब कभी देखता हूँ, गहरे विचारों में डूबा रहता है। इतनी तन्मयता, इतना एकान्त चिन्तन और इतनी नीरव आराधना किस लिए है ? मानों इसके जगत् में निराशा छोड़ कुछ है ही नहीं।

(धर्मनाथ का प्रवेश)

धर्मनाथ—(अशोक को चिन्तित देखकर) अशोक !

अशोक—(उठकर) गुरुदेव ! (झुककर चरण-रज अपने मस्तक पर लगाता है)

धर्मनाथ—तुम्हारी जय हो राजकुमार !

अशोक—मुझे इतनी बड़ी सेना के साथ यहीं पड़े रहने के लिए कहकर आप कहाँ चले गये थे ?

धर्मनाथ—मैं जो कुछ करता हूँ, तुम्हारे कल्याण के लिए; इस कारण कोई भी बात तुमसे गुप्त रखना नहीं चाहता। मुझे सम्राट विन्दुसार ने बुलाया था। जानते हो, किस लिए ? तुम्हें इस प्रदेश से निकालने में सहायता करने के लिए ! इस बात का अनुमान मैं पहले ही करता था, और इसी कारण इतनी बड़ी सेवा तुम्हारे अधीन कर गया था। मैंने मगध-सम्राट की सेना देख ली ! मुझे पूर्ण विश्वास है कि सम्राट विन्दुसार की सेना तुम्हारी इस सेना के सामने एक दिन भी ठहर न सकेगी। तुम जिस दम चाहो, मगध पर विजय प्राप्त कर सकते हो। किन्तु नहीं, उसका अभी समय नहीं आया। तुम्हें एक ऐसी विजय स्थापित करनी है, जिसकी जड़ कोई भी सेना हिला न सके, और उसका स्थापन-सेना द्वारा नहीं, बुद्धि द्वारा करना होगा। सारे पश्चिमीय भारत में तुमने ऐसी ही विजय स्थापित की है। अब तुम्हें दक्षिण जाना होगा, और उसके बाद मगध (उत्साह से) देखा जायगा।

अशोक—किन्तु मैं दक्षिण कैसे जा सकता हूँ ?

धर्मनाथ—इस 'कैसे' का विचार करना मेरा काम है—तुम्हारा नहीं। सम्राट समझते हैं कि तुम्हारी शक्ति केवल इसी प्रदेश में है—जिस दिन तुम यहाँ से हटोगे, उसी दिन फिर

तुम पथ के भिखारी बन जाओगे, और इसी विश्वास पर सम्राट ने संसार को दिखाने के लिए तुम्हें तक्षशिला से हटाकर उज्जैन का शासक बनाया है। वह समझते हैं कि उज्जैन में वह तुम्हें अपनी मुट्ठी में कर लेंगे; यह नहीं सोचते कि तक्षशिला की भाँति उज्जैन भी उनके आतंक से निकल जायगा। (आवेश में) देखो, यह सम्राट का आज्ञा-पत्र है। तुम्हें कल इसपर हस्ताक्षर कर उज्जैन के लिये प्रस्थान करना होगा। सम्राट ने इस परिवर्त्तन का कारण भी विद्रोह बतलाया है, और तुम्हारी शक्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि तुम्हीं इस कार्य के योग्य समझे गये हो—यद्यपि यह सत्य नहीं है। उज्जैन में किसी भाँति का विद्रोह नहीं है, इसका पता मैंने भली भाँति लगा लिया है; किन्तु इस कूटनीति से तुम्हारी क्या हानि है? यदि सम्राट यह बहाना न किये होते, तो तब तुम्हें वहाँ अकेले जाना पड़ता, और इस भाँति तुम अपनी यह विशाल सेना अपने साथ ले जा सकोगे। कल तुम्हें अपनी सारी सेना के साथ उज्जैन जाना होगा। समझे?

अशोक—और आप?

धर्मनाथ—मेरी चिन्ता न करो, अशोक! मैं यथावसर पहुँच जाऊँगा, चाहे तुम तक्षशिला में रहो या उज्जैन में।

(प्रस्थान)

अशोक—मैं समझता था, विपत्ति का समुद्र पार कर आया। किन्तु नहीं, अभी वह और है। कितना निरालापन है! जहाँ विद्रोह था, वहाँ तो आना पड़ा मुझे अकेले, और जहाँ विद्रोह

नहीं है, वहाँ जाना पड़ेगा इतनी बड़ी सेना के साथ ! पिताजी ! आज मैं अपनेको आपके समीप नहीं पाता—इसमें दोष मेरा नहीं है—आपके प्रेम से वंचित हुआ हूँ—इसका पूरा मूल्य लूँगा । (धीरे-धीरे प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

पाटलीपुत्र

(समय—रात; चन्द्रसेन चारपाई पर पड़े हैं)

चन्द्रसेन—मंत्रित्व छोड़ दिया । करता ही क्या ? असत्य और अन्याय का पक्ष लेकर भला यह जीवन कितने दिन सुखी रहता ? सम्राट समझते थे—आतंक सत्य को दबा लेगा; किन्तु वह उनकी भूल थी । सत्य अमर है ! मनुष्य सब कुछ कर सकता है—केवल सत्य की हत्या नहीं कर सकता । अशोक सच्चरित्र है, सम्राट की विलासिता उसे पसंद नहीं, और यही अपराध है, जिसके लिये उसे विपत्ति को गले लगाना पड़ा है । यह आचार्य विष्णुगुप्त की शासन-प्रणाली का फल है कि इतना कायर और विलासी पुरुष भी इतने दिनों तक साम्राज्य का अधीश्वर बनने में समर्थ हो सका है । बिन्दुसार ! सँभल जाओ, यह एक तपस्या है । जो जितना ही तपस्वी हो सकता है, वह उतना ही सम्राट बनने का अधिकारी है । (सो जाता है: चार-पाँच डाकुओं का प्रवेश)

पहला—(समीप जाकर) सो रहा है !

दूसरा—बस मारो !

पहला—अकेले मैं ही मारूँ ?

तीसरा—तो क्या एक सोते हुए आदमी को मारने के लिए कई आदमियों की जरूरत पड़ेगी ?

पहला—हाँ, तब इतने आदमी साथ आये क्यों ? तब तो अकेला मैं ही आता। काम करूँगा अकेले मैं, और साझीदार बनोगे तुम सभी लोग ?

तीसरा—हाँ, यह तो होगा ही।

पहला—तब आओ, मारो।

तीसरा—अच्छा, हटो, मैं आता हूँ। तुम जानते क्या हो, तुम्हारे ऐसा डरपोक थोड़े हूँ। ऐसा हाथ दिखाऊँगा कि······

पहला—अजी हाथ दिखाना हो, तो यहाँ आओ, सारी बहादुरी यहीं न खर्च कर दो।

तीसरा—(आगे बढ़कर) सो रहा है—अच्छा, यह देखो। (तलवार खींचकर वार करना चाहता है)

चौथा—(बढ़कर उसका हाथ पकड़ते हुए) सो रहा है। (तलवार छूटकर चन्द्रसेन की छाती पर गिर पड़ती है)

चन्द्रसेन—(चौंककर; सभी को तलवार खींचे देखकर) तुम लोग इस आधी रात में तलवार खींचे क्यों खड़े हो ?

सब—हम लोग तुम्हें मारेंगे।

चन्द्रसेन—मुझे, क्यों ?

सब—सम्राट की आज्ञा से !

चन्द्रसेन—सम्राट की आज्ञा से ! अच्छा, मारो।

(सभी बढ़ते हैं)

(दस हथियारबन्द सिपाहियों के साथ भवगुप्त का प्रवेश)

भवगुप्त—पकड़ लो सबको। देखना, कोई भागने न पाये। नहीं तो यह सारा प्रयत्न निष्फल जायगा।

(दो सिपाही दरवाजे पर खड़े हो जाते हैं, शेष सबको बाँध लेते हैं)

भवगुप्त—बस, हो गया, मैं इनकी जान लेना नहीं चाहता—मंत्रीजी! सम्राट आपकी हत्या कराना चाहते हैं, किन्तु लोकापवाद के भय से खुल्लमखुल्ला ऐसा करने में संकोच करते हैं; इसी लिए यह आयोजन हुआ था।

चन्द्रसेन—किन्तु इसका कारण आपने कुछ सोचा है, राजकुमार!

भवगुप्त—नहीं मंत्रीजी, सम्राट की निरंकुशता। सम्राट नहीं चाहते कि उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई सत्य और न्याय की उपासना करे। इन दिनों वे ही सम्राट के कृपापात्र हो रहे हैं, जो उनके अत्याचारों की प्रशंसा कर उन्हें पतन की ओर लिये जा रहे हैं। बस, अब देर न कीजिये मंत्रीजी, इसी समय पाटलीपुत्र छोड़ दीजिये—आपका यहाँ रहना मृत्यु को निमंत्रण देना है।

चन्द्रसेन—राजकुमार—

भवगुप्त—नहीं, कुछ भी न कहिये, आपको जाना ही होगा, मैं अपने जीते-जी आपको मरने नहीं दे सकता। यह एक पुण्य तो कर लूँ। इसी घाट पर एक नौका तैयार है—उसी पर चढ़कर रातों-रात कहीं चले जाइये—तबतक ये हत्यारे इसी

भाँति पड़े रहेंगे, नहीं तो इनके छुटने पर, सम्भव है, सम्राट आपका पीछा करें।

चन्द्रसेन—अच्छा, राजकुमार, वही हो—परिवार के सभी सो रहे हैं, उन्हें जगा आऊँ। (प्रस्थान)

(पर्दा गिरता है)

तीसरा दृश्य

बैक्ट्रीया का राजमहल—डायना का कमरा

डायना—(गाती है)—

आह ! प्रिय ! अब किस जग की ओर ?
उमड़-उमड़कर इन नयनों से अन्तर की यह धार।
बहकर इस बे-सुध जीवन के जायेगी उस पार—
मौन छूने अनन्त का छोर !
आह ! प्रिय, अब किस जग की ओर ?

वह चले गये—कहाँ ? कोई नहीं जानता। वह कहाँ से आये थे, यह भी कोई नहीं जानता; और कहाँ चले गये, यह भी कोई नहीं जानता। उन्हें जाना ही था। तो आये क्यों ? मैंने उनका कौन-सा अपराध किया था। मेरे एकान्त जगत् में एक अपूर्व संगीत—मेरे सूखते हुए कंठ में एक बूँद जल—हृदय के इस अन्धकार में प्रकाश की एक किरण—इसका न होना ही अच्छा था। प्रेम—जो मनुष्य के जीवन को इस प्रकार परिपूर्ण कर देता है—जो अपने ही भीतर भावना के एक नये ही जगत् की सृष्टि कर डालता है—जो क्षण-भर के वियोग को असह्य और क्षण-भर के

संयोग को कितना मधुर बना देता है—जो अपने विस्तार में असीम और अपनी स्थिति में अनन्त ज्ञात होता है—जन्म-जन्म में भी जिसके घटने की कल्पना नहीं की जा सकती, क्या वह इतना कोमल है कि एक ही झटके में·········! (दोनों हाथों से अपना मुँह छिपा लेती है, फिर हाथों को हटाकर) ऐसी ही रात थी—चन्द्रमा इसी भाँति आकाश में हँस रहा था, और ये कोटि-कोटि नक्षत्र भी देख रहे थे इसी भाँति चुपचाप ! मैं गा रही थी, वह सुन रहे थे। मैंने पूछा—'आज पढ़ाओगे नहीं ?' उन्होंने कहा—क्या अब भी कुछ पढ़ना शेष है ?' तब से वह फिर जब कभी आते थे, मैं कहती थी—'अब न पढ़ूँगी, अब तो सब कुछ पढ़ चुकी।' वह कभी-कभी ऊब आते थे—मैं हँस पड़ती थी ! (तकिया में मुँह छिपा लेती है)

(धीरे धीरे ऐंटीओकस का प्रवेश)

ऐंटीओकस—सो रही है ! नगर में इतना उत्सव हो रहा है, और डायना सो रही है ! कदाचित् जानती ही नहीं ! यही स्थान है, यहीं मैंने ऐएटीपेटर को मारने के लिए तलवार निकाली थी, और क्षमा भी कर दिया ! वह गया कहाँ ? उसका अपराध था, नहीं तो मैं उसे कभी न छोड़ता। (डायना के पलँग के समीप झुककर ध्यान से देखते हुए) डायना ! तुम सो रही हो ? (तकिया पर हाथ रखकर) सारा तकिया भींग गया !

(डायना चुप रहती है, नीचे सिर झुकाकर)

ऐएटी०—डायना !

डायना—पिताजी !

ऐएटी०—तुम क्यों रो रही हो ?

(डायना फिर सिर नीचे कर चुप रहती है)

ऐएटी०—डायना ! आज साम्राज्य-भर में उत्सव हो रहा है, तुम रो रही हो ?

डायना—(उत्सुकता से) उत्सव कैसा, पिताजी ?

ऐएटी—तुम्हारा विवाह है !

डायना—मेरा विवाह !

ऐएटी०—इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ?

डायना—पिताजी ! (फिर चुप हो जाती है)

ऐएटी०—कहो, डायना, क्या कह रही हो ?

डायना—पिताजी, मैं विवाह न करूँगी ।

ऐएटीओकस—क्या कहा, विवाह न करोगी ? क्यों डायना ?

डायना—पिताजी, मैं इस 'क्यों' का उत्तर न दे सकूँगी । सब कुछ जानती हूँ, समझती हूँ—कह न सकूँगी ।

ऐएटी०—क्या जिस बात को समझ रही हो, वह कह क्यों न सकोगी ?

डायना—फिर वही 'क्यों'—क्षमा कीजिये, पिताजी ! मुझसे कारण न पूछिये ।

ऐएटी०—डायना ! प्रेम के आवेश में मैंने तुम्हें बोलने की पूरी स्वतंत्रता दे रखी थी ; किन्तु इसी कारण तुम्हें मेरा इस भाँति अपमान न करना चाहिये । कुछ भी कहने के पहले

यह सोच लिया करो कि मैं तुम्हारा कौन हूँ ! डायना, अब तुम्हारा लड़कपन नहीं रहा।

डायना—मैं नहीं सोच सकी, पिताजी, मैंने आपका कहाँ अपमान किया ?

ऐण्टी०—तुमने अपमान करने के लिए मेरा अपमान नहीं किया; किन्तु मैं तुमसे कुछ पूछता हूँ, और तू उसका कुछ उत्तर नहीं देती; क्या इससे मेरा अपमान नहीं होता ?

डायना—अच्छा होती है, यदि अपने हृदय की सारी शक्ति लगाने पर भी मैं शून्य में मिल पाती—यदि यह होता। पिताजी, मैंने निकल भागने का बड़ा प्रयत्न किया; किन्तु आपने मुझे निकलने नहीं दिया। कहना ही पड़ता है—मैं ऐण्टीपेटर को प्यार करती थी; और अब भी उसे चाहती हूँ। पिताजी, इस संसार में मेरा जो कुछ स्वर्ग है, वह ऐण्टीपेटर के चरणों में है—मैं उसी स्वर्ग को प्राप्त करना चाहती थी, न पा सकी। (आँखों से आँसू छलक पड़ते हैं)

ऐण्टीओकस—समझ गया—इसी की आशंका हो रही थी; किन्तु विवेक इसे भ्रम समझता था। डायना, तुम ऐण्टीपेटर से प्रेम करती हो, जिसके विषय में इतना भी कोई नहीं जानता कि उसके माता-पिता कौन थे ! राजकुमारी डायना का विवाह एक अत्यन्त भिक्षुक से हो, यह बात कैसी प्रतीत होती है, डायना ! संसार इसे किस दृष्टि से देखेगा ?

डायना—ऐण्टीपेटर के माता-पिता चाहे जो कोई रहे हों, किन्तु इतना तो अवश्य है कि वह मनुष्य थे। जिस भाँति मैं

हूँ, आप हैं, तथा संसार के अन्य मनुष्य हैं, उसी भाँति वह भी मनुष्य थे। कोई ऐंएटीपेटर के माता-पिता को नहीं जानता, इससे ऐंएटीपेटर में कोई कमी नहीं आई। मनुष्य अपना स्वयं विधाता है, और ऐंएटीपेटर ने अपना बड़ा ही उज्ज्वल निर्माण किया है। मनुष्य अपने ही गुणों से पूजित होता है और अपने ही दोषों से निन्दित। महात्मा सुकरात ने मानवीय आत्मा की स्वतंत्रता की व्याख्या इसी आधार पर की है। दूसरी बात रही—राजकुमारी का विवाह भिक्षुक के साथ। पिताजी, यह बड़ा ऊँचा आदर्श है; ईश्वरीय प्रकाश की झलक इसमें स्पष्ट देख पड़ती है। यदि यह स्थापित हो जाय, तो मानव-जाति की मुक्ति बड़ी ही सरल हो जाय। ऐश्वर्य से जो अंधे हो उठे हैं, वे भी देख लें कि सूर्य की सुनहली किरणें जिस प्रेम के साथ दरिद्र की झोपड़ी को चूम लेती हैं, उस प्रेम से वे राज-भवनों को तो देखतीं भी नहीं! इस जगत् के कितने ही समुज्ज्वल नक्षत्र—ऐंएटीपेटर की भाँति—तपस्या कर रहे हैं; क्या उनका कोई मूल्य नहीं? जिस दिन राजकुमारियों का विवाह भिक्षुकों से होगा—उसी दिन स्वर्ग इस संसार में उतर आयेगा—आनन्द और संगीत की लहरें दिग-दिगन्त में व्याप्त हो जायँगी। विश्व-सम्मिलन की नींव पर एक ऐसे जगत् की सृष्टि होगी, जिसका प्रत्येक मनुष्य प्राणिमात्र में अपना ही विश्वास देखेगा, और उसी दिन संसार की दृष्टि में वह प्रकाश आयेगा, जिससे वह सत्य के दर्शन कर सकेगा।

(ऐंटीओकस विस्मय से डायना की ओर देखता है)

(पर्दा गिरता है)

चौथा दृश्य

पाटलीपुत्र

(समय—तीसरा पहर, सम्राट बिन्दुसार उत्तेजित भाव से खड़े हैं—सामने भवगुप्त, उदयभानु, चन्द्रधर तथा कुछ अन्य सैनिक खड़े हैं)

बिन्दुसार—यह तो बड़ा बुरा समाचार है सेनापति !

उदयभानु—हाँ सम्राट, अशोक इस समय उज्जैन पहुँच गये होंगे। इस समय पाटलीपुत्र में जितनी सेना है, उससे कहीं अधिक सेना अशोक के अधिकार में है। कुमार निष्प्रयोजन इतनी बड़ी सेना लेकर उज्जैन क्यों आये, कुछ समझ में नहीं आता।

बिन्दुसार—अशोक को मैंने ही पंचनद-प्रदेश से बदलकर उज्जैन का शासक नियुक्त किया था ; किन्तु यह नहीं लिखा था कि उसे अपने साथ किसी भाँति की सेना भी ले जानी होगी।

उदयभानु—तब तो राजकुमार ने अच्छा नहीं किया।

बिन्दुसार—अशोक के पास इस आशय की आज्ञा जानी चाहिये कि वह अपनी सारी सेना तोड़ दे—इससे अपव्यय होगा।

उदयभानु—जो आज्ञा सम्राट।

भवगुप्त—पिताजी, आप ही ने तो उक्त आज्ञापत्र में लिखा था कि उज्जैन में विद्रोह हो रहा है—उसे दबाने के लिए तुम्हें उज्जैन जाना होगा। अशोक आपके आज्ञापालन

के लिए अपनी सारी सेना के साथ उज्जैन पहुँच गया। इसमें उसका कौन-सा अपराध हुआ ? कहीं विद्रोह बिना सेना के ही दब सकता है ?

विन्दुसार—चुप रहो भवगुप्त, तुम्हें कौन बुलाता है ?

(भवगुप्त का विन्दुसार की ओर देखकर जाना)

विन्दुसार—कहाँ जा रहे हो भवगुप्त ?

भवगुप्त—जब मुझे कोई यहाँ बुलाता ही नहीं, तो फिर क्यों रहूँ ? (प्रस्थान)

विन्दुसार—(चन्द्रधर से) चन्द्रधर, तुम उज्जैन से कहाँ आये—वहाँ के शासक ने तुमसे क्या कहा था ?

चन्द्रधर—सम्राट ! मैं कल सन्ध्या को यहाँ आया। उज्जैन के शासक को तो पहले यह विश्वास ही नहीं होता था कि मैं सम्राट का भेजा हुआ वहाँ गया था; अन्त में जब मैंने अपनी तलवार दिखाई, तब उन्होंने बड़े विस्मय से पूछा कि सम्राट अशोक को बन्दी करना क्यों चाहते हैं। मैंने कहा अशोक ने विद्रोह किया है।

विन्दुसार—किन्तु अब तो यह भी निष्फल जायगा। अब अशोक के पकड़ सकने का साहस कौन कर सकेगा, जब उसकी अधीनता में इतनी बड़ी सेना है ! (कुछ सोचकर) अभी चन्द्रसेन का भी कुछ पता नहीं चला !

चन्द्रधर—कौन चन्द्रसेन, मंत्रीजी ?

विन्दुसार—हाँ वही, वह कभी मंत्री था !

चन्द्रधर—मेरी उनसे चम्बल के किनारे भेंट हुई थी, वह

उस पार जा रहे थे और मैं इस पार आ रहा था। मेरे समीप ही से उनकी नाव निकल गई, मैंने उन्हें देखा; पर उन्होंने मुझे नहीं देखा।

बिन्दुसार—विद्रोही निकल गया, और वह भी इतनी दूर! सेनापति, चन्द्रसेन को पकड़ने के लिए प्रबन्ध होना चाहिये।

चन्द्रधर—जो आज्ञा सम्राट!

बिन्दुसार—केवल इतना कहने ही से काम न चलेगा, सेनापति! आज ही सेना लेकर रवाना हो जाओ।

(शीघ्रता से भवगुप्त का प्रवेश)

भवगुप्त—सम्राट! मुझे कोई बुलाता नहीं है, इसलिए मुझे बोलना न चाहिये; किन्तु करूँ क्या, साम्राज्य के हित के लिए बोलना ही पड़ता है। यदि यह मान भी लें कि चन्द्रसेन विद्रोही है, तो क्या यह उचित है कि एक साधारण विद्रोही के पकड़ने के लिए—जो एक जन्म नहीं, अनेक जन्म भी विद्रोह कर कुछ बिगाड़ नहीं सकता—सारी मौर्यसेना के सेनापति रवाना हो जायँ, और यदि कल कोई आक्रमण करे तब?—बालू की भीत की भाँति इस साम्राज्य को गिरते देर न लगेगी। सेनापति ने तो कह दिया 'जो आज्ञा'। सम्राट! ऐसे मंत्री और ऐसे सेनापति, जो आपको प्रसन्न करने के लिये अपने विवेक को इस भाँति लात मार देते हैं, इस साम्राज्य का कल्याण नहीं कर सकते। जिस मौर्य-शक्ति ने यूनानियों की उन्मत्त लालसा को एक ही फूँक में उड़ा दिया, उसी की आज

यह दशा ? जाइये सेनापतिजी, चंद्रसेन को पकड़ने जाइये, साम्राज्य की चिन्ता अकेले सम्राट कर लेंगे। (प्रस्थान)

बिन्दुसार—हाँ, मैं कर लूँगा। सेनापति ! क्या सोच रहे हो ? एक लड़के की धमकी में आ गये ? तुम्हें कल प्रातःकाल यहाँ से चला जाना चाहिये। (कान में कुछ कहकर प्रस्थान)

चंद्रधर—पहले तो तुमने अच्छा रंग दिखलाया।

उदयभानु—अच्छा रंग, इसके क्या अर्थ ?

चंद्रधर—अजी इसका अर्थ नहीं होता। यह आँख से देखने की चीज है, जबान से कहने की नहीं। सम्राट तो नीचे से लेकर ऊपर तक अच्छी तरह रँग गये !

उदयभानु—याद रखो, मैं प्रधान सेनापति हूँ।

चंद्रधर—हाँ, देखता हूँ, तुम प्रधान सेनापति भी हो, और याद करता हूँ कि तुम उस दिन सम्राट के साथ भी थे !

उदयभानु—और तुम ?

चंद्रधर—मैं आज मंत्री हूँ, और किसी दिन मंदिर का पुजारी था।

उदयभानु—पुजारी थे ? मैंने तुम्हें मंदिर में झाड़ लगाते देखा था !

चंद्रधर—तो क्या पुजारी मंदिर में झाड़ू नहीं लगाते ?

उदयभानु—हाँ, लगाते हैं। जाने दो; मेरे साथ तुम भी चलोगे ?

चंद्रधर—हाँ, यही तो अच्छा होता; मंत्री और सेनापति दोनों ही चलें। यदि सम्राट चलें, तो और अच्छा हो। बिना

सम्राट के हम दोनों साथ नहीं रह सकते। तुम सम्राट की सींग, मैं सम्राट की दुम! क्यों, है न बात ठीक?

उदयभानु—बहुत ठीक; इसी से तो तुम मंत्री हो गये!

पाँचवाँ दृश्य

उज्जैन—अशोक का दरबार

(समय—दोपहर; अशोक सिंहासन पर बैठे हैं। समीप ही कुछ सरदार चिन्तित भाव से बैठे हैं। सामने ऐंटीपेटर खड़े हैं)

अशोक—धन्य हो अनन्त, तुमने मेरी पुनः रक्षा की।

ऐंटीपेटर—यही तो मेरा काम है।

अशोक—हाँ, यही तो तुम्हारा काम है; किन्तु अनन्त! तुम्हें इस षड्यंत्र का पता कैसे लगा?

अनन्त—राजकुमार! मुझे अकेले घूमने का रोग-सा हो गया है। मैं कल रात को दूर तक उसी अन्धकार में निकल गया था। मुझे एक वृक्ष के नीचे कुछ मनुष्य के स्वर-जैसा सुन पड़ा। मैं कौतूहलवश समीप चला गया। बड़ा घना अन्धकार था—मुझे यह न ज्ञात हो सका कि वहाँ कितने मनुष्य थे—जैसे किसी ने कहा, "कल सवेरे—समझे?" उसके बाद मैं वहाँ से दूसरी ओर चल पड़ा। पीछे उसका यह कथन "कल सवेरे—समझे?" याद पड़ा। रात को मैं बड़ी देर तक सोचता रहा कि उसके इस कथन का क्या अभिप्राय था। कुछ निष्कर्ष न निकला—मैं सो गया। प्रभात हुआ, मैं बिछौने से उठा। पता चला कि आप अकेले घूमने गये हैं। मुझे फिर उसकी वह बात याद पड़ी। मैं सशंक होकर उन सैनिकों के

साथ आपके पीछे चल पड़ा। इसके बाद जो हुआ, आप जानते हैं।

अशोक—(क्रोध से) जाओ अनन्त, उस हत्यारे शासक को मेरे सामने उपस्थित करो। देखूँ, उसका इतना साहस कैसे हुआ? (ऐंटीपेटर का प्रस्थान) और सामन्तो, मैं समझता हूँ कि उसमें आप लोगों का भी हाथ—?

पहला सामन्त—नहीं राजकुमार, मैं सत्य कहता हूँ, मैं इस विषय में कुछ भी नहीं जानता था।

दूसरा—कुमार! मैं सदैव से राजभक्त रहा हूँ। मेरा यह काम नहीं है।

तीसरा—राजकुमार! विश्वास कीजिये। मैं अपने धर्म की शपथ खाकर कहता हूँ—मुझे इस विषय मे कुछ भी ज्ञात नहीं था!

चौथा—सुनिये राजकुमार! मैं क्षत्रिय हूँ, इतना नीच काम नहीं कर सकता—आप विश्वास करें या न करें। यदि अवसर मिलेगा, तो मैं दिखा दूँगा कि मैं कितनी आपकी सेवा कर सकता हूँ।

(कैदी के वेश में उज्जैन के शासक का ऐंटीपेटर के साथ प्रवेश)

अशोक—(सरदार से) तूने मुझे मारने का प्रयत्न क्यों किया? सम्राट ने तुझे इस प्रदेश का शासक बनाया था अपने पुत्र की हत्या करने के लिए?

शासक—जिस सम्राट ने मुझे यहाँ का शासक बनाया था, उसी की आज्ञा से मैंने यह आयोजन किया था।

अशोक—(आश्चर्य से) उसी की आज्ञा से ? क्या पागल हो गये हो ? यह तुमने क्या कहा ?

शासक—जो कहा, सत्य कहा। यदि विश्वास न हो, तो यह आज्ञापत्र है—(अपनी पगड़ी नीचे फेंककर) इसी के एक छोर में बँधा है।

(ऐंटीपेटर आज्ञापत्र निकालकर अशोक देता है)

अशोक—(पढ़कर) सम्राट ने यह भी किया ! अब नहीं रुक सकता। कर्त्तव्य और धर्म का बन्धन, जो अबतक जकड़े हुए था टूट गया ! (उठकर) आज मैं स्वतंत्र हूँ। यह स्वतंत्रता—इसका दमन हो ही नहीं सकता। (कुछ सोचकर) सरदार ! जाओ, मैंने तुम्हें छोड़ दिया। तुम्हें नहीं, तुम्हारे सम्राट को दण्ड दूँगा। (ऐंटीपेटर से) खोल दो। (ऐंटीपेटर बन्धन खोलता है) जा, क्यों खड़ा है ? तू पतंग इस आग से जितनी ही दूर रहे, उतना ही अच्छा है—(सरदारों से) और आप लोग भी जाइये। (सबका प्रस्थान) अनन्त !

ऐण्टीपेटर—आज्ञा।

अशोक—जाओ, सेना तैयार करो, पाटलीपुत्र पर आक्रमण करूँगा।

ऐण्टीपेटर—सम्राट , आपके पिता—

अशोक—पिता ? कोई पिता अपने पुत्र की जान ले सकता है ? यह भी कहीं सम्भव है ? मेरा पिता कदाचित् कोई दूसरा था। यह सम्राट—मेरा पिता ! संसार को यह भ्रम हो गया है—मैं इसे दूर करूँगा। मेरा एक ही लक्ष्य, एक ही

गति, और एक ही परिणाम है ; और वह है—इस सम्राट की इस भयंकर लालसा का अन्त करना। कल प्रातःकाल प्रस्थान करना होगा। समझे ? जाओ। (प्रस्थान —) सम्राट भी यह समझ लें कि मैं अबतक सब कुछ सहता आया—कर्त्तव्य समझकर, अन्यथा शक्तिहीन नहीं था—

(चन्द्रसेन का प्रवेश)

चन्द्रसेन—कुमार की जय हो !

अशोक—आप—यहाँ—इस समय ! अच्छे अवसर पर आये, (कुछ सोचकर) किन्तु नहीं, आप लौट जाइये। मैं अपनी सारी सेना के साथ पाटलीपुत्र पर आक्रमण करने के लिए यहाँ से प्रस्थान करूँगा। आप पहले पहुँच अपने सम्राट को युद्ध के लिए तैयार कीजिये। अशोक क्षत्रिय है—जो कुछ करेगा, संसार के सामने करेगा।

चन्द्रसेन—आप क्या कह रहे हैं !

अशोक—आप नहीं जानते। सम्राट् ने यहाँ के शासक का मुझे मारने के लिए लिखा—षड्यंत्र पकड़ लिया गया ! यह सम्राट का आज्ञापत्र है। (चन्द्रसेन को आज्ञापत्र देता है)

चन्द्रसेन—(आज्ञापत्र पढ़कर) सम्राट से मेरा अब कोई सम्बन्ध नहीं। कई मास बीत गये, मैंने मंत्रित्व छोड़ दिया। मेरे इसी अपराध पर सम्राट मुझे मरवाना चाहते हैं। मैं अपने परिवार के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान में मारा-मारा फिरता हूँ। सुना है, सम्राट की सेना मुझ एक साधारण मनुष्य को

पकड़ने के लिए उमड़ती हुई चली आ रही है! उदयभानु उसका सेनापति है।

अशोक—कौन, वही रसोइया?

चन्द्रसेन—हाँ, वही—और मंत्री है मन्दिर का एक पुजारी चन्द्रधर!

अशोक—ऐसा सेनापति और ऐसा मंत्री! इसी बल पर निरंकुश शासन! आइये मंत्रीजी, अशोक आपका स्वागत करता है। आपका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता, चाहे वह स्वयं सम्राट विन्दुसार हो।

(पर्दा गिरता है)

छठा दृश्य

चम्बल-नदी का किनारा—अशोक की छावनी

(तीसरा पहर—अशोक, ऐंटीपेटर और चन्द्रसेन)

अशोक—अभी उदयभानु का कुछ पता नहीं चला?

चन्द्रसेन—नहीं, अभी तो नहीं चला।

अशोक—तब फिर यहाँ पड़ा रहना अच्छा नहीं; हमें पार चलना चाहिये। अनन्त! पार चलने की तैयारी करो।

ऐण्टीपेटर—युद्ध करने का यही उपयुक्त स्थान है। जिस समय सम्राट की सेना पार उतरने लगेगी, हम अपने बाणों का उपयोग कर सकेंगे। नदी के किनारे दूर तक पर्वतश्रेणी—यही संकीर्ण पथ है, जिससे होकर सम्राट की सेना को चलना पड़ेगा। हमलोग यहीं से उनपर प्रहार कर सकेंगे। हम इतनी ऊँचाई पर हैं कि उनका कोई अस्त्र हम तक नहीं पहुँच सकता।

चन्द्रसेन—हाँ, यही ठीक है।

अशोक—अच्छा, तो फिर यही हो। मैं पाटलीपुत्र पहुँचने के लिए बड़ा अधीर हो रहा हूँ। जितनी जल्दी होती—

(दूर पर युद्ध का बाजा और हाथियों का स्वर सुन पड़ता है)

चन्द्रसेन—अरे! इस स्थान पर इतने हाथी—एक साथ! कुछ समझ में नहीं आता! कहीं सम्राट की सेना तो नहीं आ रही है?

(फिर वही स्वर कई बार होता है)

ऐरटो०—मैं बाहर जा रहा हूँ। देखूँ, क्या हो रहा है।

चन्द्रसेन—अभी दूर पर सुनाई पड़ रहा है, कदाचित नदी के उस किनारे। फिर वही—

(हाथियों का स्वर सुन पड़ता है)

(ऐंटीपेटर का वेग से प्रवेश)

ऐएटीपेटर—सम्राट की सेना आ गई! बहुत बड़ी सेना है! जहाँ तक दृष्टि जाती है, हाथी-घोड़े ही देख पड़ते हैं!

अशोक—मंत्रीजी! इतनी बड़ी सेना—केवल आपको पकड़ने के लिए? नहीं, इसका उद्देश्य कुछ दूसरा है।

ऐएटीपेटर—यह अवसर उद्देश्य के विचार का नहीं। मैं जा रहा हूँ सेना तैयार करने; आप भी चले आइये।

(प्रस्थान)

चन्द्रसेन—कुमार! किस विचार में हैं? चलिये—

(दोनों का प्रस्थान और ऐंटीपेटर का पुनः प्रवेश)

ऐएटीपेटर—(इधर-उधर देखकर) सब चले गये। डायना—

इतनी बड़ी सेना का सेनापति हूँ, कर्त्तव्य का पर्वत सिर पर है——यह विचार मुझे निर्बल कर देगा। (एक ओर देखकर) अरे! यह सम्राट का सेनापति कितना मूर्ख—सारी सेना पीछे छोड़ केवल झंडे के साथ नदी पार कर रहा है! (प्रस्थान)

(दूसरी ओर से झंडा लिये उदयभानु और चन्द्रधर का प्रवेश)

चन्द्रधर—यह तो भूल हुई, सारी सेना पीछे छोड़कर यहाँ आ गये! कितना संकीर्ण पथ है—यदि कोई आक्रमण करे—

उदयभानु—तुम कितना डरते हो! (तलवार खींचकर)जब तक इस हाथ में तलवार है, अकेले सौ का सामना कर सकता हूँ। और वह देखो, सारी सेना नदी पारकर रही है—थोड़ी देर में पहुँच जायगी।

(ऊपर लड़ाई के बाजों की आवाज होती है)

चन्द्रधर—(चौंककर) यह युद्ध का बाजा कहाँ बजा! (नदी की ओर घूमकर) कैसे पत्थर गिर रहे हैं—कैसी तीरों की वर्षा हो रही है! गई—सारी सेना नदी में गई—सेनापतिजी! आप अकेले सम्राट के झंडे उड़ाया कीजिये! एक-दो-तीन—नावें डूबीं! वह हाथी गिरा—वह घोड़ा गिरा! यह शत्रु कौन है, समझ में नहीं आता!

(ऐंटीपेटर का कुछ सैनिकों के साथ प्रवेश)

ऐंटीपेटर—पकड़ लो; (आगे बढ़कर तलवार खींचते हुए) दे दो सम्राट का झंडा सेनापति, नहीं तो—(तलवार उठाता है—उदयभानु काँपते हुए हाथों से झंडा नीचे रख देता है—(झंडा लेकर)

इसी जीवट पर चले थे सेनापति बनने ? (उदयभानु को लात मारता है)

उदय०—(हाथ जोड़कर) मैं—आपका—दास—हूँ—

ऐण्टीपेटर—(चन्द्रधर से) और तुम कौन हो ?

चन्द्रधर—मैं आपके दास का दास हूँ—

(सैनिक दोनों को बाँध लेते हैं)

ऐण्टीपेटर—विजयगुप्त ! जाओ, तीरों की बाढ़ रोक दो। कहना—सेनापति ने कहा है कि बन्द कर दो।

विजयगुप्त—जो आज्ञा। (प्रस्थान)

(युद्ध बन्द होता है, दूसरी ओर से अशोक और चन्द्रसेन का प्रवेश)

अशोक—तुमने युद्ध बन्द कर दिया ?

ऐंटीपेटर—हाँ।

अशोक—क्यों ?

ऐण्टी०—निरपराध सैनिकों की हत्या से क्या लाभ ? मैंने युद्ध छिड़ने के पहले ही अपने दस सहस्र सैनिकों को दूसरी राह से उस पार भेज दिया था। देखिये, सैनिक खड़े हो गये ; सम्राट की सेना अब उस पार नहीं जा सकती। उसे इसी पार आना होगा, और यहाँ इस तंग रास्ते में सारी सेना पकड़ ली जायगी। सम्राट का सेनापति पकड़ लिया गया—यह झंडा है। (नीचे रख देता है)

अशोक—(विस्मय से) उस पर्वतीय झरने के तीर पर—कांधार के उस जंगल में—मैंने तुमसे कहा था—'तुम मनुष्य हो

या देवदूत'—आज फिर कहता हूँ—'तुम मनुष्य हो या देवदूत'! इतनी विशाल सेना को तुमने इस तरह जीत लिया—यह मनुष्य का काम है? (उदयभानु की ओर घूमकर) इतनी बड़ी सेना किस लिए आई थी—केवल मंत्रीजी को पकड़ने के लिए? सच कहना, तुम्हारी जान न मारी जायगी।

उदयभानु—(काँपते हुए) मंत्रीजी का पकड़ना तो एक बहाना था। सम्राट ने मुझे भेजा था—उज्जैन के शासक की सहायता से आपको पकड़ने के लिए—

चन्द्रधर—कब? मुझसे तो यह नहीं कहा।

चन्द्रसेन—यह तुमसे कहना हो रहता, तो तुम्हीं मंत्री क्यों बनाये जाते? क्या मंत्रियों की कमी थी?

अशोक—(उदयभानु से) अब तुम क्या चाहते हो?

उदयभानु—(काँपते हुए) सरकार! मेरी जान न मारी जाय!

अशोक—(दया के स्वर में) तुम्हारी जान नहीं मारी जायगी। मंत्रीजी, यह बड़ा स्वादिष्ट भोजन बनाता था; इसे फिर वही स्थान देता हूँ। उदयभानु, कई वर्ष से तुम्हारा बनाया भोजन नहीं मिला; आज से बनाया करो; समझे?

उदयभानु—हाँ सरकार!

(ऐण्टीपेटर को छोड़कर सबका प्रस्थान)

ऐण्टीपेटर—कैसा सुन्दर वह स्वप्न है—जैसे हृदय की सम्पूर्ण साधना का प्रकाश-चित्र है—जीवन के सुख-समूह का केलि-मन्दिर है—मेरे इस सन्नाटे जगत् का चिरन्तन संगीत है—

भीतर की इस तपती हुई रेती में बहता हुआ जल का एक शीतल अक्षय्य प्रवाह है ! उसे केवल तुम्हीं जानती हो—डायना !

(मैकडीमस का प्रवेश)

ऐण्टीपेटर—(विस्मय से) तुम यहाँ !

मैकडीमस—हाँ, तुम्हें लिवाने के लिए मुझे सम्राट ने भेजा है।

ऐण्टीपेटर—मुझे लिवाने के लिए !

मैकडीमस—'डायना' मैसडन से राजकुमार से विवाह करना नहीं चाहती। तुम्हें चलना होगा।

ऐण्टीपेटर—वह मुझे अभी प्यार करती है ? मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ। किन्तु अब जा नहीं सकता—कर्त्तव्य के जगत् में प्रवेश कर चुका हूँ—बड़ा आनन्द है।

मैकडीमस—जा नहीं सकते ?

ऐण्टीपेटर—तुम मेरे शैशव के साथी और यौवन के मित्र हो; तुमसे कुछ छिपा नहीं सकता। मैं भी डायना से प्रेम करता हूँ। किन्तु, जब सम्राट ने निकाल दिया—जा नहीं सकता। फिर, अशोक के प्रति—जिसने मेरा जीवन इस रंग में रँग दिया—मेरा कुछ कर्त्तव्य है। युद्ध का समय है—तुम ठहरो ; फिर कहूँगा—

मैकडीमस—नहीं, मैं न ठहरूँगा। यदि अशोक के प्रति तुम्हारा कुछ कर्त्तव्य है, तो सम्राट के प्रति मेरा भी कुछ कर्त्तव्य है। तुम नहीं चलोगे, तो मैं क्यों ठहरूँ ? सम्राट मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

ऐण्टीपेटर—अच्छा मित्र, तुम जाओ, मैं न जाऊँगा। हम दोनों—कभी वह समय था—जब खाते-पीते और सोते एक साथ! आज कर्त्तव्य के बन्धन में इतनी दूर हैं!

मैकडीमस—जाता हूँ मित्र, मुझे याद करना।

(एक ओर ऐंटीपेटर दूसरी ओर से मैकडीमस का प्रस्थान)

सातवाँ दृश्य

पाटलीपुत्र के राजमहल का शिखर

(संध्या समय – भवगुप्त और विमला)

भवगुप्त—इस युद्ध का परिणाम जानती हो?

विमला—नहीं, क्या हुआ?

भव०—अशोक ने सम्राट की सेना को परास्त किया; एक भी सैनिक पाटलीपुत्र न लौट सका! अशोक बढ़ता चला आ रहा है। उसने लिख भेजा है—यदि सम्राट अपनी कुशल चाहते हैं, तो सिंहासन छोड़ दें; अन्यथा मुझे सेना से काम लेना होगा, और इसमें निर्दोष मारे जायँगे!

विमला—हूँ—उसका इतना साहस! तब तो वह सम्राट बन जायगा?

भवगुप्त—हाँ, यह तो होगा ही।

विमला—और तुम?

भवगुप्त—मैं क्या?

विमला—कदाचित् तुम बैठे-बैठे तमाशा देखोगे। तुम सम्राट के बड़े लड़के हो। तुम्हारे रहते अशोक सम्राट बनेगा—क्यों, यही न?

भवगुप्त—तुम स्त्री हो। तुम्हारा कर्त्तव्य है दया, स्नेह और त्याग। साम्राज्य की चिन्ता मुझे होनी चाहिये, तुम्हें नहीं। तुम्हें चिन्ता होनी चाहिये मेरे प्रेम की। यह साम्राज्य चला जाय, परन्तु मेरा प्रेम न जाय; तुम्हें इसी की साधना करनी चाहिये! अशोक साम्राज्य ले रहा है सम्राट से, मुझसे नहीं। मैं अशोक का बड़ा भाई हूँ, परन्तु सम्राट उसके पिता हैं। देखो, कितना अन्तर है! जबतक सम्राट जीवित हैं, साम्राज्य के लिए कोई भी प्रयत्न धर्म-संगत नहीं होगा। वह सामने सम्राट आ रहे हैं—साथ में धर्मनाथ हैं! चलो चलें—

विमला—तुम भी चलोगे?

भवगुप्त—हाँ, मैं भी चलूँगा।

विमला—न, तुम न चलो—जो कुछ आशा है, वह भी न खो दो।

भवगुप्त—फिर भी वही आशा? मैं तुमसे कह चुका हूँ, और कहता ही रहूँगा, तुम इस साम्राज्य की उलझन में न पड़ो; यदि पड़ोगी, तो अपने हृदय की सुन्दरता—अपने हृदय की मधुरता—और अपने रूप की मादकता, जिसके कारण तुम मुझे इतनी प्रिय हो, सभी खो बैठोगी। साम्राज्य की चिन्ता मुझे करने दो, और तुम उसके ऊपर से अपने प्रेम से मुझे शीतल करती रहो प्रिये! इसके बिना जीवन नीरस हो जायगा—

(एक ओर से भवगुप्त और विमला का प्रस्थान; दूसरी ओर से बिन्दुसार और धर्मनाथ का प्रवेश)

विन्दुसार—यहीं बैठिये भूदेव ! अब यहाँ कितने दिन और रहना है ?

धर्मनाथ—इतना निराश न होइये ।

विन्दुसार—निराश न होऊँ, तो और क्या करूँ ? इस समय पाटलीपुत्र में इतनी सेना नहीं है, जिससे अशोक का सामना कर सकूँ ।

धर्मनाथ—राजन् ! युद्ध का स्वप्न छोड़िये । रणक्षेत्र में अशोक को विजित करना सरल नहीं है । इसमें आपकी बहुत बड़ी तैयारी भी निष्फल होगी, और अब तो अशोक केवल दस कोस की दूरी पर है ।

विन्दुसार—तब फिर कोई दूसरा उपाय नहीं ?

धर्मनाथ—उपाय है—आप उसे नहीं जानते । आप तो केवल एक ही उपाय जानते हैं—और वह है युद्ध । अपने पुत्र को जीतने के लिए भी आपने सेना की शरण ली ! मैं आपका हित चाहता हूँ, और इसी लिए कहता हूँ, आप अशोक से क्षमा माँगें । वह क्षमा कर देगा—इसका भार मुझपर है ।

विन्दुसार—क्षमा ? और वह भी अशोक से ? अरे है यहाँ कोई—(द्वारपाल का प्रवेश; धर्मनाथ को दिखाकर) मारो इसे, क्या देखते हो, मारो ।

(द्वारपाल तलवार उठाता है; वेग से भवगुप्त का प्रवेश

भवगुप्त—सावधान ! नहीं तो—(तलवार उठाता है; द्वारपाल डरकर खड़ा हो जाता है) सम्राट ! आप इतने अंधे हो गये हैं ? आपको कुछ भी नहीं सूझता ? सर्वनाश के समीप पहुँच चुकने

पर भी आँखें नहीं खुलीं ? अशोक क्षमा माँगने में लाज लगती है ? जिसे भिखारी की तरह घर से निकाल दिया—जिसे मरवाने का प्रयत्न किया—जिसके विरुद्ध इतनी बड़ी सेना भेजी, सत्य उसके पक्ष में था, उसकी विजय हुई । यदि साम्राज्य चाहते हैं सम्राट, तो सीधे पथ पर आइये—रास्ता छोड़ चुके हैं—फिर लौटिये । इसी में कल्याण है ।

बिन्दुसार—भूदेव !

धर्मनाथ—समझ गया, आपको पश्चात्ताप हो रहा है—ईश्वर आपको सद्बुद्धि दे—

[यवनिका-पतन]

तीसरा अंक

पहला दृश्य

उज्जैन—नगर के बाहर अशोक का उद्यान

संगमरमर का चबूतरा

(चाँदनी रात; देवी चबूतरे पर बैठी गा रही है; अलक्षित भाव से प्रवेश कर अशोक उसके पीछे खड़े हो जाते हैं)

[गीत]

देवी—

उन बिनु परत नेकु नहिं चैन

व्याकुल दृग इत-उत पथ हेरत, कल न परत मोहि रैन ।।

थिर न रहत मेरो मन कहुँ एक छन

काँप उठत रजनीपति लखि तन

पिउ-पिउ रटनि पपीहा की सुनि, दरसन चाहहिं नैन ।।

उन बिनु परत नेकु नहिं चैन ।।

(गीत समाप्त होने पर चन्द्रमा की ओर देखने लगती है)

अशोक—देवी !

देवी—(घूमकर) कौन ? तुम—यहाँ (उत्सुक नेत्रों से अशोक की ओर देखती है)

अशोक—देवी ! तुम इतना अच्छा गाती हो, मैं तो नहीं जानता था ।

देवी—तुम जान भी कैसे सकते हो ?

अशोक—क्यों, मैं जान क्यों नहीं सकता ?

देवी—नहीं; तुम जान सकते हो—युद्ध, हत्या और संहार ! गाना तुम क्या जानो ?

अशोक—देवी ! (झुककर गले में हाथ डालना चाहता है)

देवी—(काँपकर) नहीं, मुझे न छुओ ! तुम्हारे हाथों में रक्त लगा होगा ! दिखाओ, देखूँ ।

(हँसकर हाथ दिखाता है)

देवी—(देखती हुई) नहीं लगा है ! यदि यह होता— (कुछ सोचकर) यदि हत्यारों के हाथ का रक्त कभी न छूटता—तब— (दूर पर दृष्टि फेंककर चुप रहती है)

अशोक—(कुछ अन्यमनस्क होकर) तो मैं हत्यारा हूँ ?

देवी—(ऊबकर) मैं नहीं जानती, तुम कौन हो । जाने दो नाथ, इन सब बातों को सुनकर भय से मेरा हृदय जोरों से धड़कने लगता है ! (अशोक का हाथ पकड़कर अपनी छाती पर रख लेती है) देखो, कितनी तीव्र धड़कन है !

अशोक—तुम इसी तरह परास्त कर देती हो—इस युद्ध में—

देवी—फिर वही युद्ध ? प्रियतम ! युद्ध छोड़कर तुम्हारे लिए कुछ है ही नहीं ? यह हँसता हुआ चन्द्रमा—ये चुप, निर्निमेष तारे—यह असीम नील गगन—यह सनसन करता हुआ समीर—ये फूली हुई लताएँ, और यह कोकिल का उन्मुक्त संगीत ! क्यों नाथ, तुम्हारा हृदय कभी इनकी ओर नहीं आकृष्ट होता ?

अशोक—देवी ! विश्व के दो पहलू हैं—कोमल और कठोर—सदय और निर्दय। सृष्टि का संचालन इन दोनों ही द्वारा होता है। एक बिना दूसरे के ठहर नहीं सकता। सच तो यह है कि ये एक ही नियम के दो अंग हैं—इन दोनों के सम्मिलन में ही नियम की परिपूर्णता है। कोमलता और सदयता तुममें है, कठोरता और निष्ठुरता मुझमें। फूल खिलते हैं—सुगन्धि उड़ती है; किन्तु आँधी आती है—दावाग्नि भी लगती है ! कोकिल की तान मादकता का सन्देश लेकर दिशाओं में चल पड़ी है—किन्तु दिगन्त में गूँज उठती है बिजली को कड़क भी ! समुद्र के एक छोर से हँसता हुआ चन्द्रमा—चाँदनी की पताका फहराते हुए—ऊपर उठता है; किन्तु दिगंत-मरुस्थल में डूबता है रक्त के छींटे फेंककर सूर्य भी ! देवी, अपने-अपने स्थान में इन सबकी उपयोगिता है।

देवी—हाँ यही तो—(फिर गम्भीर विचार में पड़ जाती है; पुनः अशोक के गले में अपनी दोनों बाँहें डालकर) क्यों प्रियतम ! जब तुम युद्ध करते रहते हो, तब भी मैं क्या तुमको याद पड़ती हूँ ?

अशोक—नहीं, तुम कैसे याद पड़ सकती हो ? वहाँ मारने-मरने से तो अवसर ही नहीं मिलता—भला, कोई याद कैसे पड़ सकता है !

देवी—किन्तु मैं—मैं तो जब माला बनाती हूँ, तब भी तुम याद पड़ते हो; जब फूल चुनती हूँ, तब भी तुम याद पड़ते हो; और जब गाती हूँ, तब भी तुम याद पड़ते हो। मुझे तो तुम कभी नहीं भूलते। तुम्हीं मुझे प्यार नहीं करते।

अशोक—'प्यार नहीं करते'—यह कैसे सिद्ध हुआ कि मैं तुम्हें प्यार नहीं करता ?

देवी—हाँ, सचमुच मैं तुम्हें याद करती हूँ—और तुम मुझे याद नहीं करते !

अशोक—अच्छा, अब याद किया करूँगा।

देवी—(अशोक का हाथ पकड़कर आग्रह से) चलो, सोने चलें। महीनों बीत गये, रात को कभी तुमसे भेंट नहीं हुई। आज अकेली न सोऊँगी—

अशोक—(ठहरकर) अभी मेरे सुख से सोने के दिन नहीं आये—

(दासी का प्रवेश)

दासी—राजकुमार, एक ब्राह्मण खड़े हैं—अपना नाम 'धर्मनाथ' बतलाया है।

देवी—चलो, सोने चलें—कल मिल लेना—

अशोक—नहीं, यह नहीं हो सकता। (प्रस्थान)

देवी—'नहीं हो सकता'—मेरे साथ सोना नहीं हो सकता। क्यों यह इच्छा होती है—जब पूरी ही नहीं होने पाती ? (सोचते हुए प्रस्थान)

(पर्दा बदलता है—धर्मनाथ और अशोक देख पड़ते हैं)

धर्मनाथ—अशोक ! सम्राट को क्षमा कर तुम पाटलीपुत्र पर आक्रमण किये बिना ही लौट आये, इससे सम्राट बहुत सन्तुष्ट हैं। पाटलीपुत्र से दूत आया था—वह कह रहा था कि सम्राट बीमार हैं; उन्होंने अशोक को बुलाया है।

अशोक—वह दूत कहाँ है गुरुदेव !

धर्मनाथ—मैंने उसे लौटा दिया।

अशोक—क्यों, क्या उसको मेरे यहाँ न आने देना आप उचित समझते हैं?

धर्मनाथ—अशोक! स्मरण रखो, मैं जो कुछ करता हूँ, केवल तुम्हारे हित के लिए। नहीं तो इसमें मेरा क्या लाभ? मैंने उससे कह दिया, अशोक स्वयं अस्वस्थ है, इस समय नहीं जा सकता। अभी सम्राट के यहाँ तुम्हारा जाना मेरी समझ में शंका-रहित नहीं है। समझे? मैंने उचित किया है अथवा नहीं—सोच लो।

अशोक—भूल हुई गुरुदेव! क्षमा कीजिये।

धर्मनाथ—अशोक! मैं स्वयं कल पाटलीपुत्र जाऊँगा। देखूँ, क्या हो रहा है। (प्रस्थान)

अशोक—मैं इस ब्राह्मण को रोक नहीं सकता। इसी की दया से मैं आज इस पदवी पर हूँ। (प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

पाटलीपुत्र—राजमहल

(आधी रात—विन्दुसार रोगशय्या पर पड़े हैं; सामने एक मन्द दीपक जल रहा है; समीप ही कुछ पहरेदार सो रहे हैं)

विन्दुसार—यही अन्त है, इसका विचार पहले नहीं हुआ! मैं सम्राट आज मृत्यु-शय्या पर पड़ा हूँ, किन्तु समीप ऐसा कोई भी नहीं, जो अपने हृदय से मेरे इस दुख का अनुभव करे, जिसकी आँखों में सहानुभूति के आँसू देख पड़ें, जो स्नेह से एक बार भी मेरे शरीर पर हाथ धरे! मुझे घेरकर इतने पहरेदार

सो रहे हैं ! मैं जब जागता था, सभी हाथ जोड़े खड़े थे—जब सो गया, सभी सो गये ! ठीक है, वे क्यों जागें ? वे सेवा करते हैं अपने वेतन के लिए; हृदय के किसी दृढ़ बन्धन के कारण वे सेवा नहीं करते। (कुछ देर चुप रहकर) अशोक बीमार है, नहीं तो वह अवश्य आता। ब्राह्मण कहता था—'अशोक उसी दशा में आने के लिए बहुत आकुल हो रहा था—किन्तु उसके बहुत विरोध करने पर उसे रुकना पड़ा।' मैंने अपनी ही भूल से अशोक को खो दिया था। (कुछ देर चुप रहकर) अशोक सम्राट होगा—अन्त में मुझे यह लिखना ही पड़ा ! इस धर्मनाथ ने मुझसे यह क्या कराया ? ब्राह्मण कहता था—'अशोक वीर और कर्त्तव्यपरायण है, साम्राज्य का भार वह भली भाँति वहन कर सकता है'—यह ठीक भी है। और भवगुप्त; यह तो कायर है, युद्ध का नाम सुनकर दहल उठता है। भला, यह साम्राज्य का संचालन कितने दिन कर सकेगा ? इतना बड़ा साम्राज्य इसके हाथों से निकल जायगा—नहीं। वही हो—अशोक सम्राट बने; किन्तु भवगुप्त बड़ा लड़का है। यह अधर्म होगा—नहीं, अधर्म नहीं होगा—भवगुप्त नास्तिक है, बात-बात में 'बुद्ध' का नाम लिया करता है—यह सम्राट होने का अधिकारी नहीं—

(भवगुप्त का प्रवेश)

भवगुप्त—पिताजी सो रहे हैं ! अन्त को यही हुआ; विमला का संदेह पूरा हुआ। अशोक सम्राट बना, और मैं—मेरे लिये कहीं शरण नहीं। मैं सम्राट का बड़ा लड़का हूँ, साम्राज्य मेरा है, किन्तु अब तो कोई आशा नहीं !

उसने तभी सचेत किया था—मैं यह सोच नहीं सका! अब उसके सामने कैसे जाऊँगा? जिस समय वह बच्चों को साथ लेकर मेरे सामने खड़ी होकर कहेगी—चलो, भीख माँगने चलें, उस समय पृथ्वी! तू मेरे नीचे इसी भाँति स्थिर रह सकेगी? (कुछ सोचकर) देखो मन, संसार में सभी मनुष्य बनने के लिए नहीं आते, इस प्रकार अशांत न होओ; यह परीक्षा का समय है, विचलित न हो। पिताजी ने यह साम्राज्य अशोक को दिया है—इसपर उसी का अधिकार है। यदि तुम चाहते हो, तो एक नया साम्राज्य बनाओ, और वह साम्राज्य—जिसमें विद्रोह न हो, युद्ध न हो, जिसके जाने की कभी सम्भावना न हो।

विन्दुसार—(स्वप्न में सोते-सोते) भवगुप्त! सम्राट तुम्हीं बनोगे।

भवगुप्त—नहीं पिताजी, मैं सम्राट नहीं बनूँगा।

विन्दुसार—(जागकर) क्या कहा तुमने भवगुप्त?

भवगुप्त—पिताजी मैं सम्राट नहीं बनूँगा। साम्राज्य आपका है—आप जिसे यह साम्राज्य दें, वही सम्राट बनने का अधिकारी है। आपने यह साम्राज्य अशोक को दिया है; सम्राट बनेगा अशोक—मैं नहीं।

विन्दुसार—यह तुमने कैसे जाना भवगुप्त कि मैंने साम्राज्य अशोक को दिया है?

भवगुप्त—पिताजी, यह ऐसी बात नहीं, जो एक क्षण भी छिप सके। यह दीपक मुझसे कह रहा है—यह समीर

मुझसे कह रहा है—यह सारा सोता हुआ संसार मुझसे कह रहा है, और कह रहा है आपका यह प्रश्न—'यह तुमने कैसे जाना !' आपने अशोक को साम्राज्य दिया है—आज ब्राह्मण धर्मनाथ मुझे आपका आज्ञापत्र दिखलाता था। पिताजी ! मैंने आपसे तभी कहा था—युद्ध करना सबका काम नहीं है—और आज कहता हूँ, सम्राट बनना सबका काम नहीं है। मैं अपनेको इसके अयोग्य पाता हूँ। आपने अच्छा ही किया।

विन्दुसार—कुमार—

भवगुप्त—कुछ न कहिये पिताजी, बड़ा आनन्द है ! यह साम्राज्य—इसे पाकर तो मनुष्य अपना सर्वनाश अपने ही हाथों कर डालता है—अपने और ईश्वर के बीच में एक बहुत बड़ी दीवार खड़ी कर लेता है—जीवन-समुद्र के उस किनारे का संगीत उसे कभी सुनाई नहीं पड़ता। आपने मुझे बचा लिया पिताजी ! जगदीश ! हृदय में बल दो—पिताजी, प्रणाम—(वेग से प्रस्थान)

विन्दुसार—जाओ महत्, मैंने आज तुम्हें पहचाना; किन्तु बड़ी देर हो गई, अब कोई उपाय नहीं—चन्द्रसेन और धर्मनाथ की हत्या मैं करा चुका था। मेरे उदार राजकुमार ! इन्हें बचाकर तुमने मुझे उस घोर पतन से बचाया; किन्तु मैंने समझा, तुम मेरा विरोध कर रहे हो, और इसी मिथ्या धारणा में मैंने तुम्हें साम्राज्य से वंचित किया। मुझे क्षमा करो कुमार—अब देर नहीं है—

(पर्दा गिरता है)

तीसरा दृश्य

पाटलीपुत्र की एक सड़क

(दो घड़ी दिन शेष; कुछ कर्मचारी आपस में बात कर रहे हैं)

पहला—तो सम्राट की मृत्यु हो गई ?

दूसरा—हाँ, क्या सुना नहीं ?

तीसरा—अभी सोकर चले आ रहे हैं—देखते नहीं हो आँखें—

पहला—हाँ भाई, अभी चारपाई से उठ रहा था—घरवाली ने आकर कहा, तुम अबतक सो रहे हो—सम्राट मर गये !

दूसरा—तुमने पूछा नहीं—तुम्हारे सोने और सम्राट के मरने से क्या सम्बन्ध है।

तीसरा—शायद यह जागते रहते तो, सम्राट नहीं मरते ! चलो, चलकर इस बात का प्रचार करें कि इन्होंने सोकर सम्राट की जान ली है !

पहला—भाई, मैं पहले भी तो सोता था; किन्तु इसके पहले तो सम्राट कभी नहीं मरे ! तुम व्यर्थ यह दोष मुझे दे रहे हो।

तीसरा—नहीं भाई, मैं नहीं, यह तो दोष तुम्हारी स्त्री ने दिया है—जिससे अधिक तुम्हारी भलाई दूसरा कोई नहीं चाहता।

दूसरा—जाने दो भाई, यह समय इन बातों का नहीं है—सोचना यह चाहिये कि अब क्या होगा।

तीसरा—होगा क्या, वही जो होता रहा है—उससे अधिक हो ही क्या सकता है ?

पहला—सुनें भी तो, क्या होता रहा है—जो होगा।

तीसरा—वही खाना-पीना और सोना !

दूसरा—और श्रीमतीजी से झगड़ा नहीं ? क्या यह नहीं होता रहा है ?

तीसरा—हाँ, वह भी तो; अभी चूड़ी नहीं जी; कल फूट गई थी। हाँ भाई, तुमने ठीक कहा, यह भी होगा—बिना उसके इन सब चीजों में क्या मजा है ?

दूसरा—सुनो, मेरा मतलब यह था कि सम्राट तो मर गये —अब सम्राट कौन होगा, और किस तरह हम लोगों का निर्वाह होगा ?

तीसरा—सम्राट कोई बने, तुमसे मतलब ? अदरख के व्यापारी को मोती के मोल से लाभ ? यह तो तुम जानते ही हो कि सम्राट चाहे कोई बने, तुम तो विरोध करोगे नहीं। फिर जो सम्राट बनेगा, उसके सामने जी-हुजूर (हाथ जोड़कर दाँत निकाल देता है) कहकर खड़ा हो जाना—निर्वाह हो ही जायगा !

पहला—चलो किसी ज्योतिषी के यहाँ चलें।

तीसरा—क्यों ?

पहला—यही पूछने कि ग्रह किसके अच्छे हैं, कौन सम्राट बनेगा।

तीसरा—तुम अपनी ग्रह-कुण्डली लिये हो ?

पहला—मेरी ग्रह-कुण्डली की क्या आवश्यकता है ?

तीसरा—कदाचित् तुम्हारे ग्रह अच्छे हों—तब तो तुम्हीं सम्राट बनोगे।

पहला—मैं सम्राट कैसे बनूँगा, बे-सिर-पैर की बातें क्यों करते हो ?

तीसरा—अभी तुमने कहा था—किसके ग्रह अच्छे हैं—कौन सम्राट बनेगा ? यदि तुम्हारे ग्रह अच्छे होंगे, तो तुम सम्राट बनोगे।

पहला—तुम बड़े मूर्ख हो ! सम्राट सभी बन सकेंगे ? मैं सम्राट का पुत्र थोड़े ही हूँ !

तीसरा—हाँ, अभी यह बात पड़ी ही रह गई—सम्राट बनने के लिये सम्राट का पुत्र होना भी जरूरी है ! तो क्या यह बात साबित नहीं हो सकती ?

पहला—क्या मेरा सम्राट का पुत्र होना ?

तीसरा—हाँ, यही तो।

पहला—(क्रोध से) देखो, जबान सँभालकर बोलो, नहीं तो कुशल न होगा। मुझे गाली दे रहा है, पाजी कहीं का !

तीसरा—सम्राट का पुत्र होना कोई गाली है ? यदि मैं सम्राट का पुत्र होता, तो इसे गाली कभी न समझता। वह देखो, सामने कुमार आ रहे हैं। हम लोगों का रास्ते में खड़ा रहना अच्छा नहीं है।

(सभी का प्रस्थान; भवगुप्त और धर्मनाथ का प्रवेश)

धर्मनाथ—तो कुमार ने क्या निश्चय किया ?

भवगुप्त—यही कि पिताजी मुझे नास्तिक समझते थे, इस बात को आपने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार मैं एक तरह से संस्कार-भ्रष्ट हुआ। जिन्हें उन मृतक-संस्कारों में विश्वास है, उनकी दृष्टि में ये मेरे द्वारा फलीभूत न हो सकेंगे। इसके लिए कोई दूसरी व्यवस्था होनी चाहिये।

धर्मनाथ—अच्छा, तो यह कार्य अशोक ही के द्वारा सम्पन्न हो।

भवगुप्त—हाँ, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं; और फिर इसी के लिए नहीं—अशोक को सम्राट बनने के लिए भी तो आना होगा? वह जितना ही शीघ्र आवे, उतना ही अच्छा; मैं स्वागत करने के लिए तैयार बैठा हूँ।

धर्मनाथ—हाँ, सम्राट ने भी अशोक ही द्वारा संस्कारों के पूरा होने की इच्छा प्रकट की थी। कुमार की क्या आज्ञा है, मैं यही जानना चाहता था। अभी अशोक को सूचना नहीं दी गई।

भवगुप्त—तुम कौन हो ब्राह्मण, कुछ समझ में नहीं आता। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि इधर जो कुछ यहाँ हो रहा है, मानों उन सबके बीच में बैठकर अकेले तुम्हीं अपने इच्छानुसार उनके परिणाम का संचालन कर रहे हो! ब्राह्मण, तुम्हें यहाँ किसने बुलाया, इस उथल-पुथल में तुम क्यों पड़े? निकल जाओ ब्राह्मण, अभी समय है; नहीं तो न निकल सकोगे; हम सब लोगों के साथ तुम भी डूबोगे! ब्राह्मण, जिसे तुम अपनी सफलता समझ रहे हो, वह वास्तव में सफलता नहीं है। जिस दिन तुम्हारा यह स्वप्न समाप्त होगा, उस दिन देखोगे कि तुम कितने

नीचे गिरे हो ! जाओ ब्राह्मण, जिसने इस अभिनय की सृष्टि की है, तुम उसके इच्छानुसार चल रहे हो—इसका कोई महत् उद्देश्य है। (प्रस्थान)

(नीची दृष्टि किये धर्मनाथ का प्रस्थान)

चौथा दृश्य

उज्जैन—किले के भीतर मन्दिर

(प्रातःकाल—धर्मनाथ एक चौकी पर बैठे हैं, सामने पूजा के बर्तन और अन्य सामग्रियाँ हैं)

धर्मनाथ—(पंचपात्र में जल उड़ेलते हुए) भवगुप्त, तुम मुझपर सन्देह करने लगे हो ; किन्तु बड़ी देर हो गई—अब तुम्हारा सन्देह—नहीं, इसका कुछ फल न होगा। सम्राट ने लिख दिया, अशोक सम्राट होगा—और अब वह अवश्य होगा। तुम अशोक से युद्ध क्या कर सकोगे ? तुम्हारा इतना साहस ? तुमने उस दिन कह दिया—ब्राह्मण, तुम यहाँ क्यों आये ! जिसने भिखारी अशोक को भारत का सम्राट बना दिया, उसी का मूल्य तुम्हारी दृष्टि में इतना कम है ! (कुछ सोचकर) किन्तु भवगुप्त, उसने उस दिन मेरी रक्षा की थी। उसके विरुद्ध—नहीं, यह उचित नहीं ! किन्तु धर्म, जिसके लिए इतना बड़ा पर्वत सिर पर लेकर इतनी दूर आया हूँ, उसका कल्याण तो इसी में है—अशोक सम्राट बनेगा। (प्राणायाम करता है)

(अशोक का प्रवेश)

अशोक—(धर्मनाथ की ओर देखकर) कैसा ध्यान है ! अभी पूजा नहीं समाप्त हुई। चलूँ, बाहर चलूँ, बाहर चलूँ; फिर अभी आऊँगा—(जाना चाहता है)

धर्मनाथ—(शीघ्रता से आँखें खोलकर) अशोक! कहाँ जा रहे हो?

अशोक—कहीं नहीं, यहीं बाहर जा रहा था!

धर्मनाथ—क्यों, इतनी जल्दी क्या थी?

अशोक—मैंने सोचा, कदाचित् मेरे रहने से उपासना में कोई बाधा पड़े। अभी थोड़ी ही देर में चला आता।

धर्मनाथ—नहीं; पूजा समाप्त हो गई। पाटलीपुत्र चलने की तैयारी अभी हो चुकी अथवा नहीं? आज ही संध्या को चलना होगा।

अशोक—आज ही संध्या को, या कल सवेरे?

धर्मनाथ—आज ही संध्या को शुभ मुहूर्त्त है—अनन्त से कह दो, सेना तैयार रखे।

अशोक—मैंने कह दिया है, कुछ चुने हुए सवार साथ ही रहेंगे।

धर्मनाथ—कुछ चुने हुए सवार नहीं; सारी सेना।

अशोक—(विस्मय से) सारी सेना! यह किस लिए गुरुदेव?

धर्मनाथ—तब तुम पाटलीपुत्र जा क्यों रहे हो?

अशोक—पिताजी के संस्कारों के लिए!

धर्मनाथ—नहीं, यह तो बहाना मात्र है। तुम चल रहे हो सम्राट बनने के लिए।

अशोक—सम्राट बनने के लिए?

धर्मनाथ—हाँ अशोक, तुम काँप क्यों उठे, क्या सम्राट बनना नहीं चाहते?

अशोक—सम्राट ? बड़े भाई के रहते ही मैं सम्राट बनूँगा ? यह कैसे ?

धर्मनाथ—हाँ, यही होगा।

अशोक—गुरुदेव !

धर्मनाथ—कहो, क्या कहते हो ?

अशोक—गुरुदेव ! आपको यह स्पष्ट कहना चाहता था। मैं यह साम्राज्य नहीं चाहता, जिसके लिए मुझे इतना दीन होना पड़े। मुझे सम्राट होना है, और मैं यह जानता भी नहीं ! एक चक्र की भाँति घुमाया जा रहा हूँ !

धर्मनाथ—समझ गया अशोक, तुम इसे मेरी प्रभुता समझते हो, और यह तुम्हें पसन्द नहीं ! अशोक, यह तुम्हारा अनुग्रह नहीं है। मैं अपने सम्राट होने के लिए प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ। जो कुछ करता हूँ, तुम्हारे लिए। यदि तुम नहीं चाहते, तो ठीक है, मैं क्यों इस अशान्ति में रहूँ ? जाता हूँ। अशोक, मेरी अनुचित प्रभुता के लिए क्षमा करना। (जाता है; कुछ दूर के बाद लौटकर) नहीं, किन्तु अभी नहीं; जिस महायज्ञ में मैंने अपने जीवन की इस भाँति आहुति दी है, वह अब पूर्ण ही हुआ चाहता है। इसे यों ही न छोड़ूँगा। तुम्हें अपनी सारी सेना के साथ पाटलीपुत्र चलना पड़ेगा। अशोक, समझे ? तर्क मत करो। ऐसे अवसर का आगमन फिर न होगा। (प्रस्थान)

अशोक—यह सब क्या हो रहा है, इसका विचार कभी नहीं हुआ। जगदीश ! विपत्ति की उस बाढ़िया में मैं बह क्यों न गया ! यदि यह जानता—मेरे सरल उदार भाई—क्या करूँ, विवश हूँ। (देवी का प्रवेश)

देवी—यह क्या, आज पूजा हो रही है ?

अशोक—(अनसुनी कर) आज पाटलीपुत्र चलना होगा—देवी—

देवी—क्यों, सम्राट् बनने के लिए ?

अशोक—हाँ, सम्राट् बनने के लिए !

देवी—तुम्हें प्रमाद तो नहीं हो गया ?

अशोक—हाँ, कदाचित् इसे प्रमाद ही कह सकते हैं, किन्तु कोई वश नहीं है; अब तो यह होगा ही।

देवी—क्या होगा, तुम सम्राट बनोगे ?

अशोक—हाँ, मैं सम्राट बनूँगा।

देवी—स्वामी ! बड़े भाई के रहते ही ?

अशोक—हाँ, बड़े भाई के रहते ही !

देवी—प्रियतम, यह न करो। (गले में हाथ डाल देती है)

अशोक—यह अवसर स्त्री के आँसुओं में बहने का नहीं है। (प्रस्थान)

देवी—नाथ ! आँसुओं में मत बहो। किन्तु मैं प्यासी मर रही हूँ; अपने प्रेम का एक बूँद जल भी तो मेरे कण्ठ में डाल दो। यह यौवन ! इसी ने तो इतना विकल कर दिया है !

पाँचवाँ दृश्य

पाटलीपुत्र—राजमहल का शिखर—गंगातट

(संध्या समय—भवगुप्त खड़े होकर गंगा की ओर देख रहे हैं, विमला अरुण को एक ओर लेकर समीप ही सिर नीचा किये खड़ी है)

भवगुप्त—(उधर ही देखते हुए) विमला, पिताजी अशोक को साम्राज्य दे गये। इसमें मेरा क्या दोष है, मैं करता ही क्या ?

विमला—हाँ, तुम करते ही क्या, तुम्हारे हाथों में तलवार उठाने की शक्ति तो थी नहीं, तुम तो आये थे अशोक के द्वार पर भिक्षा माँगने के लिए ! सम्राट होना तुम्हारे भाग्य में थोड़े बदा था ! तुम वीर पुरुष होकर भी इतने शीतल हो गये ! अशोक तुम पर शासन करेगा ! हाय नाथ ! तुम नहीं जानते, तुमने यह क्या किया ! अपने तो भिखारी बने ही, इन बच्चों को भी भिक्षुक बनाया ! इन्होंने तुम्हारा क्या अपराध किया था ? जब यह बड़ा होगा और समझेगा—साम्राज्य क्या वस्तु है, तब (रोने लगती है)

भवगुप्त—(आँसू पोंछकर) रोओ न विमला, इस समय मेरे हृदय में कैसा प्रलय हो रहा है—यदि तुम जानती—संसार में सभी सम्राट बनने के लिए ही नहीं आते—उनका समय भी तो बीतता ही जाता है ? संसार में जितना दुःख सम्राटों को उठाना पड़ता है, उतना कदाचित् किसी को नहीं। (बच्चे के सिर पर हाथ रखकर) मेरा अरुण जीवित रहे—जगदीश इसको न भूलेगा।

विमला—न भूलेगा—कैसे न भूलेगा ? अब क्या इससे अधिक भूल सकता है ? तुम सम्राट के बड़े लड़के होकर भी सम्राट न बन सके—कहाँ है वह जगदीश !

भवगुप्त—यह कोई ईश्वरीय नियम नहीं है कि बड़ा

लड़का ही सम्राट बने। वह बड़े-छोटे का विचार नहीं करता। उसकी दृष्टि में मुझमें और अशोक में कोई अन्तर नहीं। 'बड़ा लड़का सम्राट बने'—यह नियम मनुष्य ने बनाया है—अपनी ही सुविधा के लिए; इससे ईश्वर का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं! विश्वास करो विमला, वह जगदीश यों ही चुप नहीं बैठा है। मैं सम्राट न हो सका, यह उसी की दया है।

विमला—उसी की दया है! इसे तुम उसकी दया समझ रहे हो? जाओ, स्वामी, मैं समझ रही हूँ—तुम उस ईश्वरीय नियम के आवरण में अपनी अकर्मण्यता को ढकना चाहते हो। यह निष्फल प्रयास न करो। वह छिपाई नहीं जा सकती।

भवगुप्त—विमला—

विमला—कुछ न कहो स्वामी, मैं कुछ सुनना नहीं चाहती। अबतक बहुत सुनती चली आई, अब न सुनूँगी। तुम्हारा पथ अलग, और मेरा अलग।

(गहरी उपेक्षा का भाव दिखाकर जाना चाहती है)

अरुण—कहाँ जा रही हो माँ?

विमला—चुप, बोलो मत। (अरुण को लेकर प्रस्थान)

भवगुप्त—कैसी यह जाती है—इसकी दृष्टि सदैव ऐश्वर्य की ओर रहती है! जाओ विमला, विवश हूँ। तुम्हें प्रसन्न करने के लिए सम्राट बनने का प्रयत्न नहीं कर सकता! मैं जानता था, तुम छाया की भाँति सदैव मेरे साथ रहोगी; किन्तु आज यह भी देखना पड़ा। साम्राज्य छोड़ने का तो दुःख कुछ भी नहीं हुआ; किन्तु यह दुःख—इसकी सीमा नहीं! जिसे

हृदय से लगाकर—केवल साम्राज्य नहीं—यह सम्पूर्ण विश्व भूल जाता था, आज उसने भी अपना पथ अलग कर लिया ! बस अब अधिक नहीं ! (ऊपर देखकर हृदय पर हाथ रखता है)

(कुछ सैनिकों के साथ ऐण्टीपेटर का प्रवेश)

ऐएटी—पकड़ लो इन्हें, देखते क्या हो (सिपाही आगे बढ़ते हैं)

भवगुप्त—(घूमकर तलवार खींचते हुए) सावधान ! समीप न आना। कौन हो तुम युवक, तुम्हारा इतना साहस, मुझे क्यों पकड़ना चाहते हो ?

ऐण्टीपेटर—सम्राट अशोक की आज्ञा से—

भवगुप्त—हाँ ! अच्छा पकड़ो—(तलवार घुमाते हुए वेग से ऐएटीपेटर की ओर झपटता है: फिर तलवार फेंककर) नहीं, यह राजाज्ञा है। इसका विरोध नहीं कर सकता। अधर्म होगा। लो, बाँध लो (हाथों को आगे बढ़ा देता है)। (अशोक का प्रवेश)

अशोक—(विस्मय से) यह क्या अनन्त, यह तुम क्या कर रहे हो ?

ऐएटीपेटर—क्यों, मुझे ऐसी ही आज्ञा मिली थी।

अशोक—किसने तुम्हें यह आज्ञा दी थी अनन्त ?

ऐएटीपेटर—आपने—

अशोक—मैंने ? झूठ है ! मैंने ऐसी आज्ञा कब दी थी सेनापति ?

ऐएटीपेटर—आपने स्वयं तो नहीं; किन्तु आचार्य धर्मनाथजी द्वारा मुझे यही आज्ञा दी थी।

अशोक—नहीं अनन्त, यह झूठा है। धर्मनाथ ने स्वयं यह आज्ञा दी थी। धर्मनाथ को यह आज्ञा देने का अधिकार किसने दिया? खोल दो अनन्त, बन्धन खोल दो; नहीं तो प्रलय हो जायगा। एक ही सरसी के दो कमल भाई-भाई का सम्बन्ध आज भी माना जाता है।

(बन्धन खोल देता है)

अशोक—(भवगुप्त के समीप घुटने टेककर, हाथ जोड़कर) मेरे महत् उदार भाई, मुझे क्षमा करो, मैं अन्धा हो गया था। अब देख रहा हूँ, अपने कितने सुन्दर स्वर्ग को छोड़कर मैं नरक की ओर पैर बढ़ा रहा था। (भवगुप्त के चरणों पर सिर रख देता है)

भवगुप्त—(अशोक को उठाते हुए) तुमने कोई अपराध नहीं किया अशोक! और फिर तुम मेरे छोटे भाई हो, लाख अपराध करने पर भी तुम मेरे निकट सदैव क्षम्य हो।

अशोक—अपराध नहीं किया? यह मैं क्या सुन रहा हूँ! नहीं, अपराध अवश्य किया है। इससे बड़ा अपराध और हो ही क्या सकता है? तुम्हारे रहते ही मैं सम्राट बनने के लिए यहाँ तक उमड़ता चला आया, और तुम इसे अपराध नहीं समझते!

भवगुप्त—इसमें तुम्हारा अपराध क्या है अशोक? पिताजी तुम्हें साम्राज्य दे गये, तुम्हें सम्राट बनना ही चाहिये।

अशोक—नहीं, मैं सम्राट नहीं बन सकता। जिसका यह साम्राज्य है, वह सम्राट बने, मैं सम्राट बननेवाला कौन हूँ?

भवगुप्त—यह साम्राज्य तुम्हारा नहीं, तो और किसका है? पिताजी तुम्हें साम्राज्य दे गये।

अशोक—मैं पाटलीपुत्र ले चुका था। पिताजी ने यह देखा, अब साम्राज्य जाता है, अपने सम्राट बने रहने के प्रलोभन में पड़कर सम्राट ने मुझे साम्राज्य देने का विचार किया। यह दान उचित नहीं है। यह साम्राज्य तुम्हारा है भाई, तुम्हीं सम्राट बनो। मैं रास्ता भूल चुका था; फिर लौट आया।

भवगुप्त—नहीं अशोक, मैं सम्राट होना नहीं चाहता। यदि यह साम्राज्य मेरा है, तो मैं अपनी ओर से यह साम्राज्य तुम्हें देता हूँ।

अशोक—नहीं, यह नहीं हो सकता। (प्रस्थान)

छठा दृश्य

ऐंटीओकस का कमरा

(समय दोपहर; ऐंटीओकस और मैसडन का राजकुमार)

राजकुमार—तो सम्राट ने केवल मेरा अपमान करने के लिए यह आयोजन किया था।

ऐएटीओकस—राजकुमार, मैं अब भी चाहता हूँ कि डायना का विवाह तुम्हीं से हो; किन्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता।

राजकुमार—यह व्यर्थ का बहाना है, नहीं तो क्या आपकी लड़की आपकी इच्छा के विरुद्ध चल सकती है?

ऐएटीओकस—मैं यह नहीं चाहता कि उस पर दबाव डाल-कर विवाह कर दूँ—इससे तुम दोनों का जीवन सुखी न रह सकेगा।

राजकुमार—सम्राट! या तो इस स्थान से मरकर जाऊँगा,

या डायना को लेकर जाऊँगा। इस अपमान के साथ मैसडन नहीं जा सकता।

(एक राजदूत का प्रवेश; दूत—राजकुमार के हाथ में पत्र देकर चला जाता है)

राजकुमार—(पढ़कर) सम्राट! पिताजी ने लिखा है, लौट आओ। इस अपमान का बदला लूँगा—बैक्ट्रीया में खून की नदी बह जायगी। समझ लीजियेगा—अभी समय है।

ऐण्टीओकस—चाहे जो हो, उसकी इच्छा के विरुद्ध तुमसे विवाह नहीं कर सकता!

राजकुमार—अच्छा, तो इसका निपटारा यहीं हो जाय। (तलवार खींचकर) निकालो सम्राट तलवार—

ऐण्टीओकस—राजकुमार—

राजकुमार—मैं कुछ सुनना नहीं चाहता—(पैर पटक कर) निकालो तलवार—

(ऐंटीओकस तलवार निकालता है, दोनों एक दूसरे पर झपटते हैं—वेग से डायना का प्रवेश)

डायना—हाँ-हाँ, यह क्या, यहाँ युद्ध!

ऐण्टीओकस—(तलवार चलाते हुए) डायना, हट जाओ यहाँ से तुम—

(राजकुमार डायना की ओर देखने लगता है; इतने ही में ऐंटीओकस की तलवार उसके कन्धे पर पड़ती है; राजकुमार बैठ जाता है)

राजकुमार—सम्राट, मैं यही चाहता था। अब अपमानित होकर मैसडन जाने का अवसर नहीं आयेगा।

(राजकुमार डायना की ओर देखता है; ऐंटीओकस अपना साफा फाड़कर घाव बाँधता है)

ऐएटीओकस—राजकुमार, चोट हल्की है, शीघ्र अच्छी हो जायगी।

राजकुमार—अच्छी हो जायगी, तब मार डालो सम्राट! मैं जीते-जी मैसडन न जाऊँगा।

(ऐंटीओकस का शीघ्रता से प्रस्थान)

राजकुमार—डायना!

डायना—मेरे लिए आपकी यह दशा हुई! इसका मुझे बड़ा दुःख है।

राजकुमार—(डायना की ओर देखते हुए) हूँ! तुम्हें इसका बड़ा दुःख है, केवल यही न?

डायना—(पृथ्वी की ओर देखती हुई) हाँ राजकुमार, और हो ही क्या सकता है?

राजकुमार—हो क्यों नहीं सकता, यदि तुम चाहो! जानती हो, तुम्हारे विषय की कितनी सुन्दर कल्पनाओं के साथ मैं यहाँ चला था?

डायना—अनुमान कर सकती हूँ; किन्तु स्त्री जब किसी को एक बार हृदय दे चुकी है, फिर लौटा नहीं पाती।

राजकुमार—मेरी ओर देखो।

डायना—(राजकुमार की ओर देखती हुई गम्भीर स्वर में) इस समय आपके प्रति मेरे हृदय में सहानुभूति की धारा उमड़ी

चली आ रही है; किन्तु विवश हूँ, जैसे अब मुझपर मेरा अधिकार नहीं है।

राजकुमार—तब किसका अधिकार है?

डायना—आप सुनना चाहते हैं? मैंने अपना हृदय किसी को दे दिया—बहुत दिन हुए। मेरे इस हृदय-हीन शरीर को लेकर आप क्या करेंगे? अपने लिए नहीं, आपके लिए कहती हूँ।

राजकुमार—(कुछ सोचकर) तो फिर कोई अपना हृदय किसी को क्यों दे?

(ऐंटीओकस का कई आदमियों के साथ प्रवेश; आदमी राजकुमार को उठाने का प्रयत्न करते हैं)

राजकुमार—ना, मैं स्वयं उठ जाऊँगा (उठकर खड़ा होता है, कन्धे से रक्त की धारा निकल पड़ती है) सम्राट, लोगों ने न मालूम क्यों विवाह को इतना आवश्यक बना लिया है! सभी विवाह करते हैं; किन्तु उसके बिना भी जीवन चल सकता है। मैं विवाह न करूँगा। (प्रस्थान)

(द्वारपाल का प्रवेश)

ऐण्टीओकस—डायना,—नहीं, क्या लाभ—

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—बाहर एक सैनिक खड़े हैं—'मैकडीमस' नाम बतलाया है। (प्रस्थान)। (ऐंटीओकस का प्रस्थान)

डायना—यह मैकडीमस उनकी खोज में गया था—सुनने का जी चाहता है—किन्तु सुनकर हृदय और अशान्त हो उठेगा—(प्रस्थान)। (ऐंटीओकस और मैकडीमस का प्रवेश)

ऐरटीओकस—तो ऐरटीपेटर सेनापति हो गया—

मैकडीमस—इस समय वह मौर्य-साम्राज्य का प्रधान सेनापति है।

ऐरटीओकस—प्रधान सेनापति ? एक अज्ञात विदेशी के कन्धे पर इतने बड़े उत्तरदायित्व का भार ? ये भारतीय कितने उदार और महत् हैं ! इन्होंने इतना बड़ा पद एक विदेशी को दे दिया ! जैसे अपने और पराये का भाव इन तक नहीं पहुँच सका ! तो ऐरटीपेटर नहीं आयेगा ?

मैकडीमस—उन्होंने कहा, सम्राट ने निकाल दिया; फिर नहीं जा सकता।

ऐरटीओकस—नहीं, अभी आता हूँ। देखूँ—डायना—(प्रस्थान)

(डायना का प्रवेश)

डायना—मैकडीमस ! तुम आ गये ?

मैकडीमस—मैं गया कहाँ था ?

डायना—तुम वहाँ गये थे, मैं जानती हूँ। एक बात पूछती हूँ, तर्क न करना, ईश्वर और सत्य दोनों के बीच में खड़े हो, झूठ न बोलना। ऐरटीपेटर से भेंट हुई ?

मैकडीमस—यदि हुई हो ?

डायना—यदि ? इतने पर भी 'यदि' ? यहाँ 'यदि' के लिए स्थान नहीं है। स्पष्ट कहो, भेंट हुई थी ?

मैकडीमस—हुई थी !

डायना—उन्हें लिवा नहीं आये ?

मैकडोमस—मैंने कहा, किन्तु वह न आये।

डा०—तुम्हारा आकर्षण उन्हें यहाँ खींच न ला सका।

मैकडीमस—(हँसकर) मैं सब जानता हूँ, ऐएटीपेटर आज भी आपको उसी तरह प्यार करता है, जिस तरह पहले करता था। उसने इसे स्वयं स्वीकार किया। इस विश्व में जो उसके लिए सबसे महान् है—आपका वही आकर्षण जब उसे न खींच सका, तब मेरी कौन-सी बात है।

डायना—मेरा आकर्षण? उसकी बात न कहो, इस समय वह कहाँ हैं?

मैकडीमस—वह इस समय सम्राट अशोक के प्रधान सेनापति हैं। मेरी उनसे युद्धक्षेत्र में भेंट हुई थी। एक बहुत बड़े युद्ध में वह विजयी हुए थे। अशोक उन्हें अपने सगे भाई से कम प्यार नहीं करता।

(नेपथ्य में मैकडीमस की पुकार)

मैकडीमस—सम्राट बाहर बुला रहे हैं—

(जाना चाहता है, डायना बढ़कर उसका हाथ पकड़ती है)

डायना—तुम्हें सम्राट बुला रहे हैं—अब अधिक कहने का समय नहीं है। तुम ऐएटीपेटर के बाल्यबन्धु हो, और मैं ऐएटीपेटर के चरणों में अपने जीवन का सर्वस्व अर्पित कर चुकी हूँ। मुझे उनका दर्शन करा दोगे? यदि करा दोगे, तो तुम पर स्वर्ग से आशीर्वाद की वर्षा होगी! एक जलते हुए हृदय को शीतल करना, इससे बड़ा पुण्य और कोई नहीं है मैकडीमस!

मैकडीमस—राजकुमारी—

डायना—(रोककर) कुछ नहीं—कहो 'हाँ' या 'नहीं'। तुम्हारे हृदय के द्वार पर मैंने यह भीख माँगी है—विमुख न करना।

मैकडीमस—अच्छा दर्शन करा दूँगा।

डायना—तुम्हारी जय हो! मेरे इस अँधेरे जगत् में तुमने प्रकाश की एक किरण फेंकी है—ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे।

(मैकडीमस का प्रस्थान— डायना गाती हुई धीरे-धीरे चली जाती है –

जगती के अय आकुल गायन!
विश्व - भारती के आह्वान!
अय चिर-तापस! स्वप्नलोक के—
अन्तर्जग के दूत अजान!

मानस के इस भाव-कुंज के—
अय पिक! तेरी नीरव तान—
यदि न गूँजती मूक हृदय में—
तब होता मधु का अवसान—

(प्रस्थान)

सातवाँ दृश्य

गंगा तट पर एक जंगल

(समय—तीसरा पहर; धर्मनाथ, अशोक और गिरीश)

धर्मनाथ—राजकुमार! मैंने तुम्हें सम्राट बनाने का संकल्प किया था, उसे पूरा भी कर दिया। इस समय केवल इच्छा करने से ही तुम सम्राट बन सकते हो—बनो या न बनो। मैं

संयोगवश इस प्रसंग में आ पड़ा था। नहीं तो सम्राट कोई बने, मुझ तपस्वी का इससे क्या सम्बन्ध। तुम तब क्या थे, और अब क्या हो, स्वयं तुम्हीं देख लो। इतने दिन तुम्हारे साथ रहकर धर्म का कोई कल्याण न हो सका—इसी का दुःख है—परमात्मा की यही इच्छा थी। तुम्हारे लिए जिस पथ को छोड़कर इतनी दूर आ गया—फिर लौटकर उसी पर चलूँगा।

अशोक—बड़े भाई के रहते ही मैं सम्राट बनूँ—यही उचित है?

धर्मनाथ—तुमने अपने पिता के रहते ही सम्राट बनना चाहा था, क्या वह उचित था? जीवन में ऐसे अवसर भी आते हैं, जब अनुचित उचित प्रतीत होता है और उचित अनुचित। यदि तुम—इस आशा से कि धर्म का कल्याण होगा—इस भयंकर उथल-पुथल में पड़े होते, तो मेरी दशा का अनुभव कर पाते। मेरे लिए तुम और भवगुप्त दोनों ही बराबर हो—हाँ, तुमसे धर्म का हित होगा और उससे अहित। आर्यों ने धर्म के लिए, भाई क्या, सारा संसार छोड़ दिया। एक ओर धर्म है—दूसरी ओर भाई। एक के प्राप्त करने पर दूसरा छोड़ना ही होगा। इन दोनों में से किसे प्राप्त करना चाहते हो? समझकर कहना—फिर पछताना न पड़े।

गिरीश—हाँ राजकुमार, पछताना न पड़े।

अशोक—मैं धर्म का कल्याण चाहता हूँ।

धर्मनाथ—तो सम्राट बनो।

अशोक—सम्राट बनूँ? अधर्म के सहारे खड़े होकर धर्म

का कल्याण कर सकता हूँ ? जिस समय वह आकर मेरे सामने खड़े होते हैं, उनका गम्भीर मुख—उन्नत ललाट और प्रशस्त वक्षस्थल देखता हूँ, भीतर से एक क्षीण—किन्तु स्पष्ट स्वर आता है—'यह तुम्हारे बड़े भाई हैं।' हृदय की सारी भक्ति उनके चरणों तले वह उठती है—फिर यह सम्राटत्व का भाव एक तीखे तीर की तरह मेरे भीतर चुभने लगता है, और मैं शीघ्रता से उसे निकाल फेंकता हूँ।

(नेपथ्य में—मारो, बचने न पाये—साथ ही, कई घोड़ों के टापों की आवाज सुन पड़ती है)

अशोक—(चौंक कर) अरे यह क्या ! (तलवार खींच कर चला जाता है)

धर्मनाथ—(धीरे से) राजकुमार यही होंगे (गिरीश के कान में कुछ कहता है)

गिरीश—(काँप कर) यह भी करना होगा ?

धर्मनाथ—एक व्यक्ति के जीवन-मरण से धर्म का जीवन-मरण कहीं गुरुतर है। भवगुप्त के रहते अशोक सम्राट नहीं हो सकता, और बिना उसके सम्राट बने धर्म का कल्याण नहीं हो सकता।

गिरीश—यह—

धर्मनाथ—चुप, कुछ न कहना ! भगवान् कृष्ण ने हँसते-हँसते महाभारत का भीषण हत्याकाण्ड देखा था—जानते हो, क्यों ? उसी में धर्म का कल्याण था। यह करना ही होगा—चलो, चलें।

(धर्मनाथ के पीछे गिरीश का प्रस्थान; अशोक के साथ खून से तर-बतर ऐंटीपेटर का प्रवेश— पीछे से एक सैनिक एक हत्यारे का हाथ बाँध ले आता है)

अशोक—सब भाग गये, केवल एक पकड़ा गया। (हत्यारे की ओर घूमकर) तुझे इन सबको पकड़वाना होगा।

ऐण्टीपेटर—जाने दीजिये राजकुमार, इससे क्या होगा।

अशोक—इससे क्या होगा ? आज ये तुम्हारी हत्या कर चुके थे !

ऐण्टीपेटर—तो क्या होता ? मैं मरना ही चाहता हूँ। मैं जिस मुक्ति के लिए छटपटा रहा हूँ, वह मुझे मरने ही पर मिलेगी।

अशोक—तुम मरना ही चाहते हो, क्यों ?

ऐण्टीपेटर—नहीं, वह एक ऐसी बात है, जो मनुष्य की भाषा में नहीं कही जा सकती। जिसने भीतर की इस पीड़ा को इतना मधुर बनाया है, इसे केवल वही जानता है—उफ् ! कितना दर्द ! (मूर्च्छित होकर गिरने लगता है; अशोक उसे अपनी गोद में लेकर बैठ जाता है)

(पर्दा गिरता है)

आठवाँ दृश्य

गंगा के उस किनारे भवगुप्त का अन्तःपुर

(दो घड़ी रात बीते भवगुप्त और विमला)

भवगुप्त—तुमने ऐण्टीपेटर की हत्या कराने का आयोजन किया था ?

विमला—मैंने ?

भवगुप्त—हाँ, तुमने! देखो, झूठ न बोलना।

विमला—और यदि झूठ बोलूँ?

भवगुप्त—प्रेम का आधार विश्वास है। जिस दिन तुम बोलकर अपना विश्वास खो दोगी, उसी दिन यह प्रेम, जो हम दोनों का सब कुछ है—जिसने जीवन के ध्यान को इतना मधुर बना दिया है, काँप उठेगा। तुम अपना हृदय सारे संसार के लिए चाहे जितना अंधकारमय रखो; किन्तु मेरे लिए तो उसे प्रकाशित ही रखना पड़ेगा। सच कहना, तुमने यह आयोजन किया था?

विमला—हत्याएँ तो बराबर होती ही रहती हैं; किन्तु तुमने कभी किसी हत्यारे से तो कुछ नहीं पूछा। मुझसे ही यह क्यों पूछ रहे हो?

भवगुप्त—मेरे समीप तुम्हारा जो स्थान है—क्या कोई भी उसे प्राप्त कर सकता है? तुम जो कुछ करोगी, उसका उत्तरदायी मुझे होना पड़ेगा।

विमला—कोई अन्य क्यों नहीं प्राप्त कर सकता—तुमने जो स्थान मुझे दिया है, किसी दूसरे को दे दो; किन्तु मुझसे कुछ न पूछो।

भव०—तुमसे कुछ न पूछूँ? तुम्हारा स्वामी होकर भी—

विमला—स्वामी—हाँ, कभी थे!

भवगुप्त—तो क्या अब नहीं हूँ?

विमला—नहीं; तुममें जो कुछ स्वामित्व था, वह तो उसी दिन चला गया, जिस दिन तुमने सम्राटत्व छोड़ दिया। ऐश्वर्य

का उपभोग अकेले अच्छा नहीं लगता' किन्तु भिक्षा—यह तो अकेले ही अच्छी लगती है ! अब, जब भीख ही माँगनी है, तो इसमें तुम्हारे साथ की आवश्यकता नहीं।

भवगुप्त—(विमला का हाथ पकड़ते हुए) यह तुमने हृदय से कहा है ?

विमला—मैं कुछ सुनना नहीं चाहती।

(उपेक्षा दिखाकर चली जाती है)

भवगुप्त—यह कैसा बन्धन है ! इतनी उपेक्षा पर भी वह इच्छा क्यों होती है। अब इसे दबाना ही होगा। वह मुझसे प्रेम नहीं करती—मैं उससे इसकी भीख न माँगूँगा। विमला ने ही अनन्त को मरवाना चाहा था—उस अपराधी ने यही स्वीकार किया है। मैं इस विषय में कुछ भी नहीं जानता; किन्तु इसे कौन मानेगा।

(नेपथ्य में गान)

छोड़ु मन जग की झूठी आस।
कौन, कहाँ से आया तू कब, और कहाँ तव बास।
समझ सका क्या अरे न अबतक चलती है क्यों साँस ?
रे उन्मत्त चेत कर अब भी, पड़ न मोह की फाँस।
जो कुछ लेकर आया उस दिन, रहा न वह भी पास !

छोड़ु मन—

भवगुप्त—ठीक है, यह सभी मिथ्या है ! इतने दिनों से मिथ्या की आराधना करता चला आ रहा हूँ, अब भी आँखें नहीं खुलीं !

(दासी का प्रवेश)

दासी—एक साधु आये हैं—मिलना चाहते हैं।

भवगुप्त—यहीं लिवा लाओ। (दासी का प्रस्थान) याद आती है वह सुहाग की प्रथम रात्रि—मैंने विमला का हाथ पकड़कर यही कहा था 'इधर आओ'—सामने दीपक जल रहा था—उसने पूछा 'मैं आऊँ'—उस मन्द समीर ने पूछा 'मैं आऊँ'—एवं पूछा उस विश्वव्यापिनी शान्ति ने कि 'मैं आऊँ—मैंने उसे अपनी ओर खींच लिया—उस सनसन करते हुए समीर के संगीत में—उस समाधि-संलग्न प्रशान्त रजनी में—उस विश्वसाधना के सम्मुख उसने दीपक की ओर देखा। उसके नेत्रों की गंगा मेरे हृदय को सींचने लगी। उसी ने आज—वह सत्य नहीं—यौवन के ज्वार का चढ़ाव था। महात्मा नहीं आये— (प्रस्थान)

(साधु के वेश में गिरीश का प्रवेश)

गिरीश—(इधर-उधर देखकर) धर्मनाथ! जिसने तुम्हारे प्राणों की रक्षा की, तुम उसी को मरवाना चाहते थे? राजकुमार महान है, निस्संकोच मुझे अपने अन्तःपुर में बुला लिया। (भवगुप्त का प्रवेश)

भवगुप्त—(चरण छूकर) मैं आपको लिवाने नीचे गया था।

गिरीश—राजकुमार, मैं यहाँ अधिक नहीं ठहर सकता। विरक्तों को ऐश्वर्य का वातावरण सुखकर नहीं प्रतीत होता। मैं कल धर्मनाथ के यहाँ था। अशोक का दूत मुझे 'धर्मनाथ समझकर यह पत्र दे गया। (पत्र देकर जाना चाहता है)

भवगुप्त—महात्मन्—

गिरीश—मैं यहाँ रुक नहीं सकता। पत्र पढ़कर कर्त्तव्य निश्चित कर लो। (प्रस्थान)

भवगुप्त—(पत्र पढ़कर) तो अशोक मेरी जान लेना चाहता है। उसका सारा त्याग दिखावटी था। (कुछ सोचकर) अशोक, तुम साम्राज्य ले लो, यह कलंक क्यों लोगे। भविष्य का संसार कहेगा—अशोक ने अपने भाई को मारकर साम्राज्य लिया था। मैं तुम्हें इस कलंक से बचाऊँगा। कोई आकर्षण नहीं रहा। मैं यह केलि-मन्दिर सदैव के लिये छोड़ रहा हूँ— (प्रस्थान)

[यवनिका-पतन]

चौथा अंक

पहला दृश्य

अशोक का दरबार

(समय—प्रातःकाल दस बजे; अशोक सिंहासन की बाईं ओर
बैठे हैं; चन्द्रसेन, एँटीपेटर तथा अन्य कई
सामन्त भी समीप ही बैठे हैं)

चन्द्रसेन—राजकुमार और सामन्तो ! बड़े कुमार का पता लगाने के लिए जितने दूत भेजे गये थे, सभी लौट आये, कहीं भी कुमार का पता न चला। साम्राज्य बिना सम्राट के कब तक चल सकेगा ? कई वर्ष हो रहे हैं, यह सिंहासन मूर्त्तिहीन मन्दिर की भाँति सूना ही रह गया।

अशोक—सभी दूत लौट आये ?

चन्द्रसेन—हाँ, सभी लौट आये—केवल एक दूत, जो कलिंग भेजा गया था, अभी नहीं आया। वह सबसे पहले गया था, किन्तु अभी नहीं लौटा।

एक सरदार—दूत के विलम्ब से कार्य-सिद्धि की आशा होती है।

अशोक—मंत्रीजी ! जिस भाँति हो, प्रबन्ध करते चलिये। बड़े भाई रहते ही मैं सम्राट नहीं बन सकता।

चन्द्रसेन—मैं यह नहीं कहता कि आप सम्राट बनें।

किन्तु, यदि पता न चला, तो—क्या यह साम्राज्य सदैव सम्राट-हीन रहेगा ?

अशोक—तो मैं सम्राट बनूँगा।

(वेग से विमला का प्रवेश)

विमला—हाँ, क्यों नहीं सम्राट बनोगे ? सम्राट बनने के लिए ही तो तुमने अपने पथ से बड़े भाई को अलग कर दिया।

अशोक—नहीं, कभी नहीं। मैंने इस साम्राज्य को जीतकर भी उनके लिए छोड़ दिया। यदि मुझे सम्राट बनने की इच्छा होती, तो मैं आज से कई वर्ष पहले ही बन गया होता, और कोई कुछ नहीं करता। मैं उन्हें सम्राट समझता था, और अब भी समझता हूँ। वह अभी आयें, यह राजमुकुट उनके चरणों पर रखने के लिए तत्पर हूँ।

विमला—कुँवर, यही नियम है कि सम्राट का पुत्र सम्राट बनता है—भाई नहीं। तुम जिसे सम्राट समझते हो, यदि वह नहीं, तो उसका पुत्र तो है, उसे ही साम्राज्य क्यों नहीं देते ? जबतक तुम उसे साम्राज्य नहीं देते, कोई इसपर विश्वास नहीं कर सकता।

अशोक—वही हो, उनका पुत्र सम्राट बने।

ऐण्टीपेटर (चन्द्रसेन से) बारह वर्ष का बालक सम्राट—मानों साम्राज्य एक खिलौना है ! संसार के इतिहास में यह नई बात होगी।

अशोक—चाहे जो हो अनन्त, मैं यह कलंक स्वीकार

नहीं कर सकता। (विमला की ओर देखकर) जाइये, आप भीतर जाइये, वही होगा।

(विमला जाती है; एँटीपेटर आश्चर्य से अशोक की ओर देखने लगता है; सिर मुँड़ाये हुए दूत का प्रवेश)

चन्द्रसेन—यह क्या जगत्सूर, मुण्डन कैसा ?

दूत—क्या पूछते हैं मंत्रीजी, मगध के राजदूत का जितना अपमान कलिंग में हुआ, उतना अपमान कभी किसी दूत का कहीं न हुआ होगा। सिर मुँड़ाकर मैं सारे नगर में घुमाया गया—सड़कों पर लोग मुझपर थूकते जाते थे ! आज सम्राट चन्द्रगुप्त नहीं ! नहीं तो, इस अपमान के कारण सारा कलिंग रक्त की नदी में डूब जाता। (अशोक से) राजकुमार ! कुमार भवगुप्त का कहीं पता न चला। यदि क्षत्रियत्व लेशमात्र भी शेष रह गया हो, तो इस सिंहासन पर बैठकर अपने इस महान अपमान का बदला लेने का संकल्प करो। नहीं तो यह साम्राज्य शरत् के मेघ की भाँति उड़ा ही समझो।

एक सामन्त—इतना अपमान, नहीं—हम कभी नहीं सह सकते। मंत्रीजी, कलिंग से युद्ध छिड़ना चाहिये।

(धर्मनाथ का प्रवेश)

धर्मनाथ—चाहिये तो ऐसा ही ! मौर्य-साम्राज्य क्या आज इतना निःसत्व है कि वह अपने इस वृद्ध दूत के इस गुरुतर अपमान का बदला नहीं ले सकता ? क्या यह सुन्दर देश आज वीरशून्य है ? मैंने तुमसे कहा था कुमार, और आज फिर कहता हूँ, सम्राट बनो। सैकड़ों वर्ष से जिस शक्ति ने कभी नीचा

नहीं देखा, वह लुप्त हो रही है, और तुम खड़े-खड़े देख रहे हो! तुम्हारा शोणित इतना शीतल हो गया है? क्या सोचते हो कुमार, अब भी सम्राट नहीं बनोगे?

अशोक—बनूँगा गुरुदेव—अब सम्राट बनूँगा। बनना नहीं चाहता था; किन्तु कोई वश नहीं! उस जगदीश की यही इच्छा है—पूरी होकर ही रहेगी। इतने दिनों की साधना निष्फल गई—मुझे सम्राट बनना ही पड़ा!

चन्द्रसेन—आपने इतने दिनों तक साम्राज्य छोड़ दिया था, यह भी उसी की इच्छा थी; और आज स्वीकार किया, यह भी उसी की इच्छा है।

अशोक—तो कलिंग से युद्ध करना चाहिये—यही सबकी राय है?

दूत—हाँ, यही तो युद्ध का अवसर है। दूत के इस घोर अपमान पर भी यदि युद्ध न होगा, तो फिर कब होगा—कुमार! सम्राट चन्द्रगुप्त के समय से ही मैं इस पद पर हूँ, कभी अपमानित नहीं हुआ। (गला रुँध जाता है)

धर्मनाथ—इतने कातर क्यों हो रहे हो जगत्सूर? तुम्हारे इस अपमान का बदला अवश्य लिया जायगा।

अशोक—अनन्त, तुम क्या कहते हो?

ऐएटीपेटर—सम्राट, मैं सेनापति हूँ—मैं कुछ कहना नहीं जानता। मेरा काम युद्ध करना है। सम्राट की आज्ञा होगी, युद्ध करूँगा; न होगी, चुप रहूँगा।

अशोक—अच्छा, तो वही हो। सेना तैयार करो अनन्त!

देखूँ, कलिंग के शासक ने किस बल पर मेरे दूत का अपमान किया है।

चन्द्रसेन—सहसा युद्ध न छेड़कर कलिंग के शासक को अधीनता स्वीकार करने के लिए कहना चाहिये। यदि वह स्वीकार न करे, तो युद्ध छिड़ जाय।

अशोक—हाँ, यही ठीक है।

दूसरा दृश्य

कलिंग की राजसभा

(समय—तीसरा पहर ; कलिंग के वृद्ध महाराज 'सर्वदत्त' सिंहासन पर बैठे हैं, राजकुमार 'जयन्त' दाईं ओर और मंत्री 'विजयकेतु' बाईं ओर बैठे हैं। जीवदास, रुद्रमुख, नरपाल तथा अन्य कई सामन्त भी स्थिर बैठे हैं। नागरिकों से सभा-भवन भरा है

विजयकेतु—यह मगध-सम्राट अशोक का पत्र है। अशोक ने लिखा है—'कलिंग के शासक ने मेरे दूत का घोर अपमान किया है! यदि कलिंग मेरी अधीनता स्वीकार कर ले, तो मैं उसका अपराध क्षमा कर दूँगा, अन्यथा सारा कलिंग रक्त की नदी में डूब जायगा।'

जयन्त—इतना दर्प! अत्याचारी अशोक—जो अपने बड़े भाई के रहते ही सम्राट बन बैठा! उसका इतना साहस!

रुद्रदत्त—राजकुमार, अशोक आये, हम युद्ध-क्षेत्र में उसका स्वागत करने के लिए तैयार हैं।

जीवदास—अरे भाई, सम्राट की भी तो सुनो।

नरपाल—सम्राट इसे छोड़कर और क्या कहेंगे।

सर्वदत्त—नहीं, मैं यह नहीं कहूँगा—मैं यह नहीं चाहता कि एक के अपराध से अनेक निरपराधों का रक्त बहे। मैं सदैव से देखता आया हूँ कि एक उच्छृंखल शासक अनेक निरपराध मनुष्यों की मृत्यु का कारण हुआ है। मंत्रीजी, अशोक का कोई दूत यहाँ आया था ?

विजयकेतु—नहीं, कोई नहीं।

सर्वदत्त—तब फिर अपमान किसका हुआ ? अशोक के पास लिख भेजिये कि यहाँ उसका कोई दूत नहीं आया; फिर अपमान किसका हुआ ! मुझे विश्वास है, अशोक मान जायगा।

जयन्त—नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। अशोक समझेगा, अपनी रक्षा के लिए हमने यह उपाय ढूँढ़ निकाला है। हम यह हीनता स्वीकार नहीं कर सकते।

एक युवक—नहीं, कभी नहीं।

सर्वदत्त—क्यों युद्ध के लिए लालायित हो रहे हो जयन्त ! ईश्वर अपनी सृष्टि का इस तरह संहार न देख सकेगा। वह भी कोई व्यवस्था अवश्य करेगा—क्या तुम समझते हो कि वह तुम्हारे अनुकूल होगी ? यदि अशोक की तृष्णा इतने से ही मिट रही है, तो उसे ही स्वीकार क्यों नहीं कर लेते ?

जयन्त—हाँ, ठीक है ! क्यों न यदि उसकी तृष्णा मेरा सिर लेने से मिट सके तो मैं उसे अपना सिर दे दूँ ? पिताजी, चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार ने लाख प्रयत्न करने पर भी जिसकी ओर दर्प की आँख से नहीं देखा—अशोक इतने गर्व से उसी को अधीनता स्वीकार करने के लिए लिख रहा है, और आप

कहते हैं—उसे ही स्वीकार क्यों नहीं कर लेते ! कलिंग आज इतना निर्वीर्य हो गया कि अशोक की एक धमकी उसे अपने अधीन कर ले ? जिस कलिंग में वीरों की तलवारें निरन्तर चमकती रहती थीं, वही जैसे कायरों की विलास-भूमि हो रहा है ! बौद्धधर्म की ओर आपकी विशेष सहानुभूति ही इसका कारण है। यदि यही दशा रही, तो किसी दिन यहाँ वीरों का नाम भी न रहेगा। जो जाति जितना ही अधिक रक्त बहाती है, उतना ही अधिक जीवित रहती है

सर्वदत्त—जयन्त ! जो जितने ही अत्याचार करते हैं, उतने ही कायर होते हैं; और जो अत्याचार का सहन करते हैं, वे उतने ही वीर। युद्ध और हत्या से मनुष्य की आत्मा सदैव पतित होती आई है; कभी ऊँची नहीं हुई। तुम किसके साथ युद्ध करोगे जयन्त ? तुम क्या हो, और अशोक क्या है ! जिस हाड़-मांस के पुतले को तुम सब कुछ समझ रहे हो, वह तुम नहीं हो। तुम समझते हो, मैं बुद्ध का अनुयायी हूँ; किन्तु दया और स्नेह की शिक्षा क्या तुम्हारे सनातन धर्म ने नहीं दी ?

जयन्त—पिताजी, मैं यह दार्शनिक व्याख्या नहीं समझ सकता। अशोक ने युद्ध के लिये ललकारा है—युद्ध करूँगा। देखूँ, उसका कितना साहस है—किस साहस से उसने हमें अधीन होने के लिए लिखा है। सामन्तो और नागरिको ! आप मेरा साथ दें या न दें, अन्तिम साँस तक मैं युद्ध करता रहूँगा।

(चारों ओर से स्वर आता है—देंगे, अवश्य साथ देंगे)

सर्वदत्त—अच्छा, यदि सभी युद्ध करना चाहते हैं, तो मैं

इस प्रवृत्ति को दबा नहीं सकता; किन्तु जब तक मैं सम्राट हूँ, यह अत्याचार न देख सकूँगा। (अपना मुकुट जयन्त के सिर पर रखते हुए) कुमार, यह लो मुकुट, तुम सम्राट हुए, मैं यह राज्य छोड़कर अभी चला जाता हूँ। राज्य छोड़ने की इच्छा तो—बहुत दिन हुए—मेरे मन में उत्पन्न हुई थी; कर्त्तव्य के बन्धन में पड़ा रह गया। आज तुमने स्वयं उसे स्वीकार कर लिया, मैं स्वतंत्र हो गया।

(जाना चाहता है—दूसरी ओर से माया का प्रवेश)

माया—पिताजी, मुझे भी अपने ही साथ लेते चलिये।

सर्वदत्त—नहीं बेटी, मेरा जयन्त अकेला है। उसका आत्मीय अब तुम्हारे सिवा और कोई नहीं रह गया। उसकी सहायता करना बेटी! (माया के सिर पर हाथ रखकर) आशीर्वाद देता हूँ, तेरा जीवन सुखी रहे (प्रस्थान)

(धीरे-धीरे माया का प्रस्थान—जयन्त और अन्य सभी महाराज की ओर देखते हैं—पर्दा बदलता है; माया अकेली देख पड़ती है)

माया—पिताजी भी चले गये—माता को मरे बहुत दिन हुए। याद भी नहीं आती! अब अकेले भाई रह गये! पिताजी ने मुझे उनकी सहायता करने को कहा है! भगवान ने मुझे भी पुरुष क्यों नहीं बनाया। स्त्री होकर उनकी सहायता कर सकूँगा! अपनी रक्षा भी तो नहीं कर सकती! (कुछ सोचकर) वह युद्ध करने जायँगे, मैं भी युद्ध करूँगी; इसका भी उपाय सोच लिया! बस अब चिन्ता नहीं।

तीसरा दृश्य

यमुना के किनारे का जंगल

(समय—दोपहर; डायना और मैकडीमस एक घनी छाया के समीप पहुँचकर)

मैकडीमस—राजकुमारी, दो पहर हो गया—बड़ी कड़ी धूप है—आप थक गई होंगी—कुछ देर यहीं विश्राम कीजिये। मैं जाता हूँ, देखूँ, कदाचित् कहीं कुछ भोजन की सामग्री मिल सके। (मुस्कराते हुए) कैसा सुन्दर दृश्य है! सम्राट ऐण्टीओकस की कन्या—(चुप होता है)

डायना—यह क्या मैकडीमस—तुम्हारी आँखों से आँसू गिर रहे हैं! (अपने अंचल से उसकी आँखें पोंछकर) ना, रोओ न मैकडीमस, मुझे कष्ट नहीं है।

मैकडीमस—हाँ, ठीक कहा राजकुमारी, यह दृश्य रोने का नहीं है, किन्तु हँस भी नहीं सकता, मानों यह कोई ऐसी वस्तु है, जहाँ हँसी और रुलाई—इन दोनों में से कोई नहीं पहुँच सकती—यह न इस लोक का है और न उस लोक का, इस काल का है, न उस काल का—यह अपने ही में अक्षय, अनन्त और अपूर्व है; मानों यह विश्व की अनुभूति है, मृत्यु का संगीत है, जीवन का अवसाद है (अपनी पगड़ी पृथ्वी पर रखकर) बैठिये राजकुमारी, आप थक गई होंगी—(जाना चाहता है)।

डायना—(पगड़ी उठाते हुए) बस मैकडीमस, बहुत हुआ; तुम इतने ऊँचे और महत् हो! जिस गौरव का अनुभव मैंने बेक्ट्रीया के राजमहलों में नहीं किया—आज इस एकान्त बन

में तुमने उसी का अनुभव करा दिया। मेरे अनन्त जीवन के बन्धु! अनेक जन्म में भी मैं तुम्हारे उपकारों का बदला न दे सकूँगी। (मैकडीमस के माथे पर पगड़ी रखते हुए) यह मेरी उपासना की वस्तु है—इसका सम्मान तुम न करो, मैं करूँगी।

मैकडीमस—(कृतज्ञता के स्वर में) जाता हूँ राजकुमारी, देखूँ कुछ मिल जाय। (प्रस्थान)

डायना—मैं इस आशा से चल रही हूँ कि पेरुटीपेटर से भेंट होगी। किन्तु यह मैकडीमस अनेक कष्ट सहता हुआ केवल मेरा साथ देने के लिए चल रहा है। जब कभी रात में नींद खुलती है, इसे जागते ही पाती हूँ। तुमने मेरे लिए कितना कष्ट सहन किया मैकडीमस—स्त्री छोड़कर, पुत्र छोड़कर, देश छोड़कर तुम मेरे साथ चले आ रहे हो! नहीं तुम्हारे इस उपकार का बदला हो ही नहीं सकता। (कुछ सोचकर) वह अब मुझे पहचानेंगे? यदि न पहचानेंगे तो? वह पहचानें या न पहचानें, मैं तो उन्हें पहचानूँगी। मैं उन्हें प्यार करना चाहती हूँ, इसके बदले में वह भी मुझे प्यार करें; यह तो मेरी इच्छा नहीं। जीवन के कारागार में यह अनन्त गायन यदि सुन न पड़ता तो, क्या उसमें एक क्षण भी बन्द रहना असह्य न हो उठता? मादकता का यह आवरण, हृदय की सारी आकुलता को ढँककर, आत्मा की अनुभूति को छटपटाने से बचा लेता है।

(मैकडीमस के साथ दूध लेकर एक ग्वाले का प्रवेश)

मैकडीमस—राजकुमारी, कोसों लम्बा जंगल है। शीघ्रता में कोई वस्तु मिल न सकी। यह थोड़ा-सा दूध मिला है, पी लो।

डायना—और तुम ?

मैकडीमस—कुछ विशेष प्रबन्ध न हो सका !

ग्वाला—क्यों न हो सका पथिक ? तुम्हीं ने तो कहा कि इतने ही से काम चल जायगा। मैं जाता हूँ, और दूध लाता हूँ।

(जाना चाहता है)

मैकडीमस—नहीं, रहने दो, आवश्यकता नहीं है।

ग्वाला—क्या कहते हो पथिक ! तुम यहाँ से भूखे चले जाओगे ? नहीं यह नहीं हो सकता—बड़े भाग्य से अतिथि आते हैं। (प्रस्थान)

डायना—मैकडीमस, यहाँ के निवासी कितने सरल और कितने महत् हैं ! जितना आतिथ्य सत्कार ये जानते हैं, अन्यत्र कहीं के निवासी उतना नहीं जानते। इसका अनुभव—इस देश में जब हमलोगों ने चरण रखा—तभी से होता आ रहा है।

(दूध लेकर ग्वाले का पुनः प्रवेश)

ग्वाला—दिन ढल गया, दूध पी लो पथिक। (डायना से) बेटी, तुम्हारा मुख सूख गया है। इस पात्र में जल है। हाथ-मुँह धो लो। लाओ, तुम्हारे पैर धो दूँ। हमारे यहाँ अतिथि का आसन देवता के बराबर है। (पैर पकड़ना चाहता है)

डायना—(पैर खींचकर) ना, पैर न छुओ, तुम वृद्ध हो !

ग्वाला—अच्छा, बेटी, देर न करो।

(डायना मुख, हाथ और पैर धोकर दूध पीती है ; ग्वाला पुनः यमुना से जल भर लाता है, और मैकडीमस भी हाथ-मुँह धोकर दूध पीता है)

ग्वाला—मेरा घर यहीं जंगल से सटा हुआ है। मार्ग में कहीं धूप नहीं है; वहीं चलकर आपलोग विश्राम करें। मेरी प्रार्थना स्वीकार करना पथिक ! बेटी, चलो चलें।

(मैकडीमस, डायना और ग्वाले का प्रस्थान)

(ऐंटीओकस का प्रवेश)

ऐएटीओकस—उफ ! कितनी गर्मी है ! इतनी दूर आ गया ; डायना और मैकडीमस से भेंट न हुई। बिना मुझसे कहे ही डायना चली आई। कुछ समझ में नहीं आता। अभी यहीं पता चला था, दो मनुष्य—एक स्त्री और पुरुष गये हैं। यहाँ भी भेंट न हुई। देखूँ, कदाचित् इधर कहीं हों।

(एक ओर प्रस्थान)

चौथा दृश्य

जयन्त की फौजी छावनी

(समय—संध्या; माया अकेली घूम रही है)

माया—एक मास से अधिक हुए, भैया बराबर सेना इकट्ठी करते चले जा रहे हैं ! युद्ध में इतने मनुष्य मारे जायँगे ! वह इसमें ऐसे लगे हैं कि उन्हें अपने शरीर की कुछ भी चिन्ता नहीं। आज सारा दिन बीत गया, उन्होंने कुछ भोजन नहीं किया। कितने दुबले हो गये हैं ! मैं उनकी कुछ भी सहायता न कर सकी। उनके लिए एक भाँति का बोझ हो रही हूँ। नित्य आकर पूछते हैं—'माया, तुम्हें उदास तो नहीं मालूम होता—क्या करूँ, तुम्हारे पास बैठने का समय नहीं है' ! मैं सिर झुका-

कर रह जाती हूँ। अपने स्त्री होने का दुख उस समय और भी बढ़ जाता है।

(नेपथ्य में—यही छावनी है राजकुमार । दासी का प्रवेश)

दासी—राजकुमारी, एक वृद्ध स्त्री अपने पुत्र के साथ आई है। राजकुमारी से मिलने की प्रार्थना कर रही है।

माया—उसे यहाँ लिवा लाओ।

दासी—यहीं ?

माया—हाँ यहीं। (दासी का प्रस्थान)

माया—वृद्ध स्त्री अपने पुत्र के साथ—क्या कारण हो सकता है।

(दासी के साथ पुत्र के कन्धे पर हाथ रखे हुए वृद्धा का प्रवेश)

वृद्धा—जय ! राजकुमारी की जय हो ! मेरी एक प्रार्थना है, मृत्यु के समीप पहुँच चुकी हूँ, विमुख न करना राजकुमारी; ईश्वर तुम्हारा भला करेगा। बोलो, वचन देती हो, स्वीकार करोगी, बोलो। (माया चुप रहती है)

वृद्धा—ईश्वर ! क्या मुझे यहाँ भी निराश होना पड़ेगा, गंगा के समीप पहुँचकर भी क्या मेरी प्यास न बुझेगी ; मेरा वृद्ध और असहाय होना—यह भी क्या मेरा ही अपराध है ? जीवन के किनारे पहुँच चुकी हूँ राजकुमारी, जीने की साध नहीं है ; किन्तु यह दुख लेकर मरना भी नहीं चाहती। तुम्हारी अनुकम्पा की एक दृष्टि मुझे निहाल कर देगी। पैरों पड़ती हूँ राजकुमारी, (माया के पैर पड़कर) स्वीकार करोगी—बोलो।

माया—कहो माँ, स्वीकार करूँगी, तुम्हारी क्या प्रार्थना है ?

वृद्धा—मेरे ऊपर से तुमने पर्वत उठा लिया, ईश्वर तुम्हारा भला करे। राजकुमार आज सैनिकों की खोज मे मेरे गाँव में चले गये, मैंने उनसे प्रार्थना की कि मेरे इस पुत्र को सेना में भरती कर लें; किन्तु उन्होंने यह कहकर कि यह तुम्हारा इकलौता लड़का है—इसके चले जाने पर तुम निस्सहाय हो जाओगी, मेरी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। राजकुमारी, जिस माता का पुत्र देश के काम नहीं आता, उसका पुत्रवती होना निष्फल होता है। मेरे इस पुत्र को सेना में भरती करा दो; मैं सुख से मरूँगी।

माया—(वृद्धा के पुत्र से) क्यों युवक, तुम सैनिक बनना चाहते हो? समझ लेना, प्राणों की समस्या है।

युवक—राजकुमारी, मैं क्षत्रिय-बालक हूँ, सैनिक बनना सौभाग्य समझता हूँ। माता का बन्धन था, सो वह भी यही चाहती है। कैसा सुयोग है!

(नेपथ्य में 'जय—राजकुमार की जय हो')

वृद्धा—राजकुमार आ रहे हैं। यह आज के बने सैनिकों का जय-जयकार है—देखना राजकुमारी, मुझे हताश न होना पड़े।

माया—ना मा, हताश न होना पड़ेगा।

(नेपथ्य में फिर 'जय—राजकुमार की जय हो')

माया—इन सैनिकों में कितना उत्साह है, जैसे किसी उत्सव में सम्मिलित हो रहे हों! क्या ये मृत्यु से नहीं डरते?

वृद्धा—नहीं राजकुमारी, मृत्यु का डर इन्हें कैसा? देश

की रक्षा के लिए युद्ध का नाम सुनकर वीरों का हृदय फड़क उठता है! कैसा गाना गा रहे हैं!

माया—सुनो, क्या गाते हैं।

(सब चुप रहते हैं, गान सुन पड़ता है; पर्दा बदलता है; गाते हुए कई सैनिक प्रवेश करते हैं—पीछे राजकुमार हैं)

गान

किस साहस से यह शत्रु यहाँ आयेगा ?
माता का कर अपमान कहाँ जायेगा ?
पाटेंगे सागर और शैल तोड़ेंगे।
पर जीवित इसको कहीं नहीं छोड़ेंगे।
तड़पेगा सेना-सहित समर-सागर में।
देखेगा या यमलोक तुरत पल-भर में।
बोलो, 'कलिंग की जय' बोलो, फिर बोलो।
वीरो! हरिपुर का द्वार समर में खोलो।
कल युद्धभूमि में रक्त-नदी में तिर-तिर—
बोरेंगे हम अरि-सैन्य घूम धर फिर-फिर।
हाँ, शत्रु-खड्ग को गले लगा क्षण-क्षण में—
मर-मरकर होते अमर वीर-गण रण में।

(गाते हुए सैनिक एक ओर से चले जाते हैं; दूसरी ओर से माया, वीरभद्र और वृद्धा का प्रवेश)

जयन्त—(युवक से)—वीरभद्र, तुम फिर यहाँ क्यों आये ?

वृद्धा—मेरा भद्र, आया है देश-रक्षा में तुम्हारी सहायता

करने के लिए। उसे विमुख न करो राजकुमार! देश के प्रति जो तुम्हारा कर्त्तव्य है, उसका भी तो वही है।

माया—मैं वचन दे चुकी हूँ भाई, इनकी प्रार्थना स्वीकार होनी चाहिये।

जयन्त—अच्छा वीरभद्र, तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार हुई किन्तु वृद्धा, तुम ?

वृद्धा—मैं ? इतना बड़ा संसार है—मैं कहीं चली जाऊँगी राजकुमार, वह जगदीश मेरा निर्वाह करेगा।

जयन्त—(गद्‌गद कंठ से) नहीं, तुम कहाँ जाओगी माँ—तुम केवल वीरभद्र की माँ नहीं—तुम मेरी माँ हो, सारे देश की माँ हो ! मेरी माँ नहीं है, तुम हम सबकी माँ होकर यहीं रहो। (वीरभद्र से) आओ, अब तुम केवल सिपाही नहीं, मेरे भाई बनकर मेरे साथ-साथ तलवार चलाना—(छाती से लगाता है)। आओ माँ, बाहर चलें—एक बार ये सारे सैनिक, और हो सके तो सारा देश, तुम्हें 'माँ' कहकर पुकारे, और वही स्वर इस अनन्त में व्याप्त हो उठे। (वीरभद्र और वृद्धा के साथ जयन्त का प्रस्थान)

माया—देश के लिए इस वृद्धा ने आज कितना त्याग किया—यदि मैं पुरुष होती—(एक ओर लटकते हुए शीशे में अपना सारा शरीर देखकर) मैं पुरुष बन सकती हूँ ? ये आँखें, यह बाल—नहीं, क्यों नहीं बन सकती ? इसका प्रयत्न करूँगी। मैं पुरुष के वेश में युद्ध करूँगी—यदि मरना पड़ेगा, तो मरूँगी, चिन्ता क्या है। पिताजी ने चलते समय कहा था—जयन्त की

सहायता करना। मैं उनके समीप ही लड़ती हुई मरूँगी। इससे बड़ी सहायता और क्या हो सकती है ?

(कुछ सोचते हुए प्रस्थान)

पाँचवाँ दृश्य

महानदी का किनारा

(समय—दो घड़ी रात बीते, चाँदनी रात; अशोक के सैनिक कुछ दूर पर विश्राम करने का प्रबन्ध कर रहे हैं, ऐण्टीपेटर अकेले नदी के किनारे खड़ा है)

ऐण्टीपेटर—कलिंग की सेना कितनो दूर पर है, कुछ पता नहीं चला। अभी जासूस नहीं लौटे। कैसा भयंकर युद्ध है! डायना, तुम्हारा हताश प्रणयी कर्त्तव्य का पर्वत लेकर इतनो दूर आ गया! तुम्हें कभी इसका ध्यान होता होगा—(कुछ देर चुप रहकर) उसने विवाह नहीं किया। मुझ अभागे का इतना सौभाग्य! हृदय में यह कैसी आशंका हो रही है! इस युद्ध से लौटूँगा ? जैसे कोई भीतर कह रहा है—नहीं, न लौटोगे। यदि यही हो, तो मुझे कुछ दुख नहीं है। अन्तर की जलन तो मिट जायगी! डायना, तुमने अपनी आँखों में मेरे साधना के सारे विश्व को कैद कर रखा है, उसे छोड़ दो—मैं सुख से मर सकूँगा। जीने की इच्छा हो रही है, यदि तुम्हें पा सकूँ, और यदि नहीं, तो मरना ही अच्छा है। मेरे इस सर्वनाश के भीतर जो वंशी बज रही है, उसको सुननेवाला तुम्हें छोड़कर दूसरा कौन है। मुझे देश-निकाले का दण्ड मिला, और मेरा अपराध—वही चुम्बन—मानव-जीवन की वह

मधुर छवि क्षण-मात्र में ही इस हृदय में अंकित हो गई—क्षण-मात्र के उस एकान्त सम्मिलन ने मानों सृष्टि के दो अनन्त पहलुओं को सम्मिलित कर दिया। (नेपथ्य में किसी की आहट सुनाई पड़ती है; चौंककर) कौन है ?

(नेपथ्य में—सेनापति—भीगे वस्त्र—चार जासूसों का प्रवेश)

ऐण्टीपेटर—क्या समाचार है—कलिंग की सेना का कुछ पता चला ?

पहला सेनापति—दो घड़ी दिन शेष रहे, उधर की सेना यहाँ से दस कोस की दूरी पर थी—सेना बड़े वेग से बढ़ती चली आ रही है।

ऐण्टीपेटर—हूँ ! तो नदी पर अधिकार कर लेना चाहिये।

(वेग से प्रस्थान)

(एक ओर जासूस भी जाते हैं—नेपथ्य में लड़ाई का बाजा बज उठता है—हाथियों और घोड़ों का स्वर सुन पड़ता है ; 'तैयार रहो—तैयार रहो' - कई ओर से सुन पड़ता है—पर्दा बदलता है—समीप ही तैयार होती हुई सेना दीख पड़ती है—एक ओर से अशोक, दूसरी ओर से ऐण्टीपेटर का प्रवेश)

अशोक—अनन्त, तुमने सेना तैयार होने की आज्ञा दी है ?

ऐण्टीपेटर—हाँ सम्राट।

अशोक—सेना दिन-भर की थकी है, इस समय उसे विश्राम करने देना चाहिये था—कल प्रातःकाल चलते।

ऐण्टीपेटर—सम्राट, शत्रु चढ़ आया ; यह समय विश्राम करने का नहीं है।

अशोक—तो क्या युद्ध अभी आरम्भ होगा ?

ऐएटीपेटर—नहीं; कल सवेरे।

अशोक—तब व्यर्थ सेना को हैरान करने से लाभ ? सेनापति को दूर तक सोच लेना चाहिये—शक्ति का अपव्यय अच्छा नहीं है।

ऐएटीपेटर—सोच लिया है ! सम्राट ! भली भाँति सोच लिया है, शत्रु यहाँ से अब कुल चार कोस की दूरी पर रह गया है ! मैंने अपने जासूस भेजकर इसका पता लगा लिया। अब यदि कुछ भी देर होगी, तो नदी पर विपक्ष का अधिकार हो जायगा, और उस समय हम कुछ भी न कर सकेंगे। नदी पर जिसका अधिकार होगा, विजय भी उसी की होगी। सम्राट, यह निश्चित है, आज हमें उस पार चलकर—नदी के उस पार जो ऊँची पहाड़ी है, उसपर अधिकार कर लेना है; फिर युद्ध होता रहेगा। अभी समय है सम्राट, मैं यदि सोचकर यह काम नहीं करता, तो किसी दूसरे को यह पद दीजिये। बुरा न मानियेगा सम्राट, सेनापति अपनी ही बुद्धि से शासित होता है। सम्राट की हाँ-में-हाँ मिलाने से यश उसका साथ नहीं देता।

अशोक—नहीं, मैंने भूल की—जो इच्छा हो, करो अनन्त ! मैं तुमपर शासन नहीं कर सकता। तुमपर शासन करने की व्यवस्था अभी स्थिर नहीं हो सकी। (प्रस्थान)

ऐएटीपेटर—जाओ सम्राट, मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध

कौन चला सकता है ? तुम्हारे समीप मेरा कर्त्तव्य का बन्धन है। यदि आवश्यकता होगी, उसके लिए प्राण भी दूँगा।

(प्रस्थान)

(नेपथ्य में—बस अब देर न करो—नदी पार करो)

(सैनिक नदी में कूदकर तैरने लगते हैं—देखते-देखते सारा स्थान सैनिकों से खाली हो जाता है)

(नेपथ्य में 'अनन्त ! इसी नाव पर आओ। नहीं सम्राट, आप चलिये नाव पर—मुझे शीघ्र पहुँचकर विश्राम की व्यवस्था करनी है—मैं अपने घोड़े से ही नदी पार करूँगा'। ऐंटीपेटर का घोड़ा तेजी से आगे बढ़ता हुआ देख पड़ता है)

(मैकडीमस और डायना का प्रवेश)

मैकडीमस—डायना, सारी सेना निकल गई। देखती हो, वह देखो, ऐएटीपेटर का घोड़ा बढ़ता चला जा रहा है, जैसे वह मृत्यु से नहीं डरता—(डायना एक लम्बी साँस लेकर उधर ही देखने लगती है) अरे यह कौन आ रहा है ? जैसे कोई ग्रीक हो; किन्तु इसने भी हमलोगों की तरह भारतीय वेश क्यों नहीं बनाया— कदाचित् इसे कोई संकोच नहीं।

(सामने से ऐंटीओकस आता हुआ देख पड़ता है)

मैकडीमस—डायना, अरे यह कौन—(डायना को उधर दिखाकर) चलो, जल्दी करो—कोई ग्रीक है—भेंट न हो—
(डायना और मेकडीमस का प्रस्थान)

(ऐंटीओकस का प्रवेश—ऐंटीओकस एक ओर झुककर देखता है, फिर वेग से उधर ही चला जाता है)

छठा दृश्य
युद्धभूमि—जयन्त का डेरा

(प्रातःकाल)

जयन्त—(एक चित्र देखते हुए) सोचा था, जब शत्रु अपनी सीमा में प्रवेश कर जाय, तब प्रस्थान करूँ—यही धर्म-संगत है; किन्तु यह अवसर उस विचार का नहीं था। भूल हुई—पहाड़ी पर अधिकार न हो सका। इस समय शत्रु बड़ी ऊँचाई पर है, वहाँ पहुँचना कितना कठिन है! यही जगदीश की इच्छा थी—जैसे अत्याचारी अशोक के दिन अच्छे हैं और मेरे बुरे, कोई चिन्ता नहीं! सभी जीते हैं केवल मरने के लिए। जन्म-भूमि की रक्षा—मनुष्य का जो सबसे बड़ा कर्त्तव्य है, उसके लिए मरना—अमर होना है। मेरी समझ में नहीं आता, पिताजी युद्ध से घृणा क्यों करते थे। सृष्टि के संचालन में युद्ध बड़ा उपयोगी होता है। मनुष्य जब अहंकार में भूलकर ईश्वर की ओर से आँखें बन्द कर लेता है, तब वह जगदीश इसी युद्ध के रूप में अपनी अनन्त शक्तियों का परिचय देकर उसे ठीक रास्ता दिखाता है। (वीरभद्र का प्रवेश)

वीरभद्र—राजकुमार, एक ब्राह्मण आये हैं—आपसे मिलना चाहते हैं।

जयन्त—ब्राह्मण? उन्हें सादर यहीं लिवा लाओ वीरभद्र! इस युद्धभूमि में ब्राह्मण (वीरभद्र का प्रस्थान)—कोई कारण होगा।

(वीरभद्र के साथ सशस्त्र सैनिक के वेश में तिलक लगाये धर्मनाथ का प्रवेश)

जयन्त—आप कहाँ से आ रहे हैं भूदेव ? आप इस रूप में— .

धर्मनाथ—इसमें आश्चर्य क्या है कुमार, परशुराम और द्रोणाचार्य भी तो ब्राह्मण थे ? ब्राह्मणों का कोई निश्चित वेश नहीं है कुमार ! धर्म और जाति के कल्याण के लिए वे चिरकाल से अनेक रूप धरते आये हैं। जिन्होंने इस संसार में जन्म लिया था केवल दूसरों के लिए, वे कोई विशेष वेश रखकर क्या करते ? सुनो राजकुमार, धर्म पर संकट आ रहा है। अशोक सम्पूर्ण भारत जीतकर उस प्राचीन आर्य-धर्म पर मनमानी करना चाहता है। यह अवसर किसी भी ब्राह्मण के लिए सुख से सोने का नहीं है। मैं खड़े-खड़े यह अनाचार नहीं देख सकता। कोई वह दिन था, जब ब्राह्मण की लाल आँखें देखकर बड़े-बड़े साम्राज्य काँप उठते थे। आज हमारा वह दिन नहीं रहा; किन्तु इस दुर्दिन में भी ब्राह्मण 'ब्राह्मण' है, मुझे भी अपने साधारण सैनिकों में रख लो राजकुमार, धर्म की ओर से लड़ूँगा। इससे जो पुण्य होगा, उसकी समता कोई तपस्या, कोई साधना और कोई उपासना नहीं कर सकती !

जयन्त—(भक्ति के आवेश में) कौन हैं आप ब्राह्मण ? आपका यह गम्भीर मुख, प्रशस्त ललाट और श्वेत केश—आप कोई देवता तो नहीं हैं ?

धर्मनाथ—नहीं राजकुमार, मैं एक साधारण ब्राह्मण—धर्म का कल्याण हो, यही मेरा अभीष्ट है। अपना एक साधारण सैनिक मुझे भी समझ लो कुमार !

जयन्त—साधारण सैनिक भूदेव ? मैं आपको अपनी आधी सेना का प्रधान सेनापति बनाता हूँ !

धर्मनाथ—राजकुमार की जय हो ! (ऊपर देखकर) भगवन् ! मुझे कभी इतनी आशा नहीं थी—यह जीवन सफल हो गया।

जयन्त—वीरभद्र; (धर्मनाथ से) यहीं ठहरिये भूदेव, मैं अभी आता हूँ।

(वीरभद्र और जयन्त का प्रस्थान ; गिरीश का प्रवेश)

धर्मनाथ—प्रयत्न सफल रहा। इस अबोध राजकुमार ने मुझे अपनी आधी सेना का सेनापति बना दिया। अब युद्ध में हराते कितनी देर लगती है ; देखा तुमने ?

गिरीश—तो क्या आप विश्वासघात करेंगे ?

धर्मनाथ—यह नीति है—विश्वासघात नहीं ; और फिर इतने ऊँचे उद्देश्य के लिए वह भी—

गिरीश—हाँ, क्या नहीं, वह कोई बड़ी बात थोड़े ही है ! यह न कीजिये—पाप होगा।

धर्मनाथ—पाप होगा ! चुप, पाप-पुण्य का विचार करना तुम्हारा काम नहीं है ! जाओ यहाँ से।

गिरीश—(चलते-चलते) धर्म के नाम पर इतना पाखंड ! भगवान् बुद्ध ! तुम्हारा पथ कितना प्रकाशित है ! (प्रस्थान)

धर्मनाथ—आधी सेना का प्रधान सेनापति—इतना बड़ा विश्वास ! अब क्या करूँ—जैसे मेरे नीचे से पृथ्वी खिसक रही है ! उस युद्ध-भूमि में, जब जयन्त मेरे सहारे लड़ता रहेगा,

मैं उससे विश्वासघात करूँगा—इतना बड़ा पाप—नहीं, जो कुछ करता हूँ, सब धर्म के लिए—मेरा कोई अपराध नहीं। इसी लिए तो सब छोड़ दिया—मेरा क्या नहीं था—स्त्री-पुत्र, उतना सामान—पंचनद-प्रदेश का प्रत्येक व्यक्ति भक्ति से घुटने टेक देता था! मैं इतनी दूर आया ही क्यों? तुमने मुझपर विश्वास कर लिया राजकुमार; अभी संसार से तुम कितने अनभिज्ञ हो! इसी समझ पर चले हो इतना बड़ा युद्ध करने? (उत्साह से उठकर टहलता है)

(जयन्त और वीरभद्र का प्रवेश)

जयन्त—चलिये भूदेव, आपकी सेना आपके अधीन कर दूँ—

(जयन्त, धर्मनाथ, वीरभद्र का प्रस्थान; माया का प्रवेश)

माया—भैया ने एक अपरिचित ब्राह्मण को युद्धभूमि में आधी सेना सौंप दी—यदि वह विश्वासघात करे! वीरभद्र ने बहुत समझाया, मैंने भी बहुत कहा; किन्तु वह यही कहते गये—वचन दे चुका हूँ—वचन दे चुका हूँ, टल नहीं सकता!

(वीरभद्र की वृद्धा माता का प्रवेश)

वृद्धा—क्या सोच रही हो बेटी!

माया—यही, यदि ब्राह्मण विश्वासघात करे—

वृद्धा—ऐसा न सोचो बेटी, विश्वास पर ही सारा संसार टिका है। जिस दिन ब्राह्मण विश्वासघात करेगा, प्रलय हो जायगा!

सातवाँ दृश्य

जंगलों में पत्तों की एक कुटी

(समय—दोपहर ; कुटी के सामने थोड़ी दूर पर एक सोता बह रहा है, और सर्वदत्त हरी घास पर बैठे सोते की ओर देख रहे हैं)

सर्वदत्त—अन्त को युद्ध होकर ही रहा ! मनुष्य—जिसके भीतर निरन्तर युद्ध हो रहा है—वही इस बाहरी युद्ध के लिए क्यों लालायित होता है ? जयन्त युद्ध का नाम सुनकर नाच उठता है ! अबोध यह नहीं जानता कि संसार में मनुष्य का जो कुछ अमर है, यह युद्ध की लालसा उसी का नाश कर देती है ! मनुष्य-जीवन का उद्देश्य अनन्त में सन्निहित है—उसी अनन्त का द्वार खुल पड़ता है, जब मनुष्य अपने और पराये का भाव छोड़ देता है ! जयन्त समझता है, अशोक उसका शत्रु है; किन्तु यह उसकी भूल है—वह स्वयं अपना सबसे बड़ा शत्रु है। मनुष्य का धर्म अनन्त है, वह किसी सम्प्रदाय में नहीं घिर सकता। दया और स्नेह, यही तो धर्म के आधार हैं—इनका माननेवाला किसी विशेष धर्म का अनुयायी नहीं—विश्वधर्म का अनुयायी है। (नेपथ्य में हाथियों के चिंघाड़ने का शब्द होता है) कैसा भयंकर युद्ध है—जैसे पृथ्वी हिल रही है, आकाश फट रहा है ! क्या परिणाम होगा ! अशोक जीते या जयन्त, मेरे लिए कोई सुखकर नहीं ! लाखों निरापराधों की हत्या होगी ! (संन्यासी के वेश में भवगुप्त का प्रवेश)

भवगुप्त—(सर्वदत्त को देखकर विस्मय से) इस घने वन में आप कौन ?

सर्वदत्त—इसमें आश्चर्य क्या है युवक? यही तो इसका समय है। यह प्रश्न तो मुझे करना था—'इस घने वन में तुम कौन, युवक!' तुम्हारा यह समय संन्यासी होने का नहीं है। यह रूप—जीवन के इस पहले पहर में—यौवन के इस उन्माद में, हृदय की इस अचेतना में—जब मनुष्य एक-एक क्षण में अनुराग का सजीव प्रकाश-चित्र देखना चाहता है—तुमने विराग का संगीत कहाँ सुना? कितनी विषमता है युवक!. तुमने यह क्या किया? देखो, संन्यासी हुए हो? सच कहना, तुमने यह वेश क्यों बनाया?

भवगुप्त—संसार से चित्त टूट गया—

सर्वदत्त—चित्त टूट गया—क्यों?

भवगुप्त—इसका कारण—

सर्वदत्त—हाँ, होगा, कारण अवश्य होगा। संकोच न करो। तुम कौन हो—कहाँ से आये और क्यों आये?

भवगुप्त—नहीं, मैं चाहता हूँ—मेरा परिचय संसार में कोई न जाने—कुछ न कहूँगा।

सर्वदत्त—(हँसकर) ठीक है, तुम बाहर से संन्यासी हुए हो, भीतर से नहीं; और हो भी कैसे सकते हो युवक? आँखें खोलो, देखो, तुम कितने भूले हो, तुम कौन हो—मैं कौन हूँ। इन बाहरी आँखों से जो कुछ तुम देख रहे हो, सभी भ्रम है—तुम भ्रम हो, मैं भ्रम हूँ, यह वृक्ष भ्रम है, यह झरना भ्रम है, यह कुटी भ्रम है—यहाँ जो कुछ देख पड़ता है, सभी भ्रम है;

सत्य है वही एक जगदीश—उसे छोड़ कहीं कुछ नहीं। तुम अपना परिचय किससे छिपा रहे हो युवक ?

भवगुप्त—(सर्वदत्त के चरण पकड़ते हुए) इतने दिनों से अन्धकार में भटकता चला आ रहा था, आज आपने प्रकाश का वह विस्तृत स्वप्न प्रत्यक्ष कर दिया ! संसार में इतना दुःख है—इसका कारण यही द्वैत है। उस एक को छोड़कर दूसरा क्या है। (रथों की घरघराहट और हाथियों का चिल्लाना सुन पड़ता है) कैसा भीषण युद्ध है ! इस युद्ध में आप किसकी विजय की कामना करते हैं महात्मन् ?

सर्वदत्त—फिर भी वही भूल ? कौन अपना है और कौन पराया है—युवक ? जयन्त और अशोक—मेरे लिए दोनों बराबर हैं ; किन्तु एक बात है—युद्ध मानव-जाति का सबसे बड़ा पाप है ! मैं यह नहीं चाहता कि मनुष्यता के हृदय पर युद्ध का ताण्डव इसी भाँति निरन्तर होता रहे। यदि जयन्त की विजय होगी, तो अशोक चुप नहीं बैठ रहेगा—एक नहीं, अनेक युद्ध होंगे। और, यदि अशोक की विजय होगी और कलिंग जीत लिया जायगा, तो युद्ध का अन्त होगा। इस कारण, नैतिक दृष्टि से, मैं अशोक की विजय चाहता हूँ—इसलिए कि इस युद्ध का सदैव के लिए अन्त हो जाय ! (हँसकर) दिन ढल रहा है—चलो संन्यासी, विश्राम करो—वह जगदीश सब देखता है। (नेपथ्य में गान सुनाई पड़ता है)—

बुद्ध ! फिर दिखला दो वह दीप !
कितनी घनी अँधेरी छाई !

हाथ-पैर नहीं देत दिखाई !

'किसे बुलाऊँ, कौन यहाँ पर मेरे आज समीप—

बुद्ध ! फिर दिखला दो वह दीप !

सर्वदत्त—किसी बौद्ध-भिक्षु का गान है ! अभी ये कितने थोड़े हैं; किन्तु मालूम होता है—जैसे किसी दिन बहुत हो जायँगे।

(भिक्षु के रूप में गिरीश का प्रवेश)

सर्वदत्त—महात्मन् ! आप कहाँ जायँगे ?

गिरीश—बुद्ध की शरण में—

सर्वदत्त—वहाँ आप बहुत दिनों से जा चुके हैं।

गिरीश—जा चुके हैं ? तब यहीं, इसी कुटी में—

सर्वदत्त—चलिये, यह कुटी आप ही की है।

(सर्वदत्त, गिरीश, भवगुप्त का प्रस्थान)

आठवाँ दृश्य

युद्धभूमि—माया का डेरा

(दो घड़ी दिन शेष)

माया—आज के युद्ध का क्या परिणाम होगा। भैया ने ब्राह्मण को सेनापति बनाकर बड़ी भूल की। कल युद्धभूमि में वह इधर-उधर करता रहा। भैया ने शेष आधी सेना साथ लेकर अशोक को कोसों पीछे हटा दिया। यदि सारी सेना साथ होती—नहीं, अब वह सोचकर क्या होगा। अरे यह मेरे भीतर क्या हो रहा है ! इतने दिनों से हृदय कड़ा करती चली आ रही थी—आज अन्त में वह क्यों पिघल रहा है ! हाय रे स्त्री

की जाति—तुझे इतना डर लगता है, मानों कर्त्तव्य की पुकार तेरे कानों में नहीं पड़ती—

(वीरभद्र का प्रवेश)

माया—वीरभद्र, तुम युद्ध पर नहीं गये ?

वीरभद्र—नहीं राजकुमारी, कुमार ने मुझे आज यहीं—छावनी का भार सौंपा है।

माया—हूँ ! छावनी का—और मेरा ?

वीरभद्र—हाँ, आपका भी।

माया—तुम मेरी रक्षा कर सकते हो ?

वीरभद्र—(तलवार खींचकर) जबतक इस हाथ में तलवार है, आपकी रक्षा करूँगा। मेरे जीते-जी कोई आपके समीप नहीं पहुँच सकता।

माया—मेरी रक्षा कर सकते हो वीरभद्र ? कैसे कर सकते हो—दिखाओ तो ?

वीरभद्र—यह कैसे दिखाया जा सकता है ?

माया—क्यों, जो बात कर सकते हो, वह दिखा नहीं सकते ?

वीरभद्र—हाँ राजकुमारी, सभी बातें—जो की जा सकती हैं—दिखाई नहीं जा सकतीं।

घबराये हुए दो सैनिकों का प्रवेश)

पहला सैनिक—बस हो गया, सारी सेना मर गई !

वीरभद्र—कहो भी क्या हुआ ?

दूसरा सैनिक—हुआ क्या, राजकुमार ने जिस ब्राह्मण को आधी सेना का सेनापति बनाया था, उसने विश्वासघात किया—

घूमकर राजकुमार की सेना पर आक्रमण कर दिया ! इस समय अशोक आगे है; और ब्राह्मण पीछे ! बीच में हमारी बची सेना दोनों ओर के प्रहार से विकल है !

माया—ठीक किया, यही चाहिये था ! तुम्हारे राजकुमार को उचित था—उसे सारी सेना का सेनापति बनाते !

(प्रस्थान)

वीरभद्र—और राजकुमार ?

पहला सैनिक—राजकुमार का पता नहीं ! युद्ध-भूमि में हमारा झण्डा नहीं दिखाई पड़ता !

वीरभद्र—ब्राह्मण झण्डा भी अपने ही साथ लेता गया; उसने झण्डा गिराकर सिपाहियों को भ्रम में डाल दिया है—नहीं तो वे अपनी सेना पर प्रहार न करते ।

वीरभद्र—कितना बड़ा विश्वासघात है !

सैनिक—हाँ, यही तो—बड़ी भूल हुई !

(सशस्त्र पुरुष के वेश में माया का प्रवेश)

वीरभद्र—अरे, आप राजकुमारी इस वेश में !

माया—चुप, यह समय इसके विचार का नहीं है । छावनी में कितने घुड़सवार शेष रह गये हैं ?

वीरभद्र—सवार प्रायः सौ, और पैदल—

माया—मैं पैदल नहीं पूछती । इन्हीं सवारों के साथ चलो, और उस विश्वासघातक ब्राह्मण को पकड़ लो—(आगे बढ़ती हुई) आते क्यों नहीं ?

वीरभद्र—राजकुमारी, आप—

माया—क्यों समय नष्ट कर रहे हो वीरभद्र, कुछ न पूछो—ब्राह्मण को पकड़ लो—पकड़ लो ब्राह्मण को—विश्वासघाती—

(माया के साथ वीरभद्र का प्रस्थान)

पहला सैनिक—राजकुमारी लड़ेंगी ?

दूसरा सैनिक—हाँ, नहीं तो इस वेश में क्या नाचने जा रही हैं ?

पहला—चुप, यह अवसर हँसी का है ? जैसे माता दुर्गा की मूर्त्ति थी—भक्ति से तुम्हारी आँखें नोची नहीं हो गईं ! सर्वनाश की इस घड़ी में तुम्हें हँसी आ रही है ?

(नेपथ्य में—एक साथ कई घोड़ों की टापों का शब्द होता है—फिर 'देखना वीरो, विश्वासघाती बचने न पावे—जो सौ मारे विना मरेगा—उसका सैनिक-जीवन सफल न होगा'—फिर घोड़ों के दौड़ने का शब्द होता है ।)

पहला सैनिक—राजकुमारी का स्वर है ! कितना मधुर, कितना पवित्र—जैसे वराभयदायिनी, महिषासुर-विदारिणी भगवती चण्डी हों !

दूसरा—तुम क्या कह गये—मैं कुछ नहीं समझा ।

पहला—तुम क्या समझोगे इसे, चुप रहो । इस समय जैसे—एक स्वर्ग में हूँ ! चलो, मैं भी चलूँ । (प्रस्थान)

दूसरा—हूँ ! पागल हो गया—

(पर्दा बदलता है, रण-भूमि का दृश्य सामने आता है; धर्मनाथ अपनी सेना के एक मोड़ पर चुपचाप सेना का लड़ना देख रहा है—माया का वीरभद्र और अपने कई घुड़सवारों के साथ प्रवेश करके फिर अदृश्य हो जाना—)

(नेपथ्य में—'सैनिको ! इस विश्वासघाती ब्राह्मण ने तुम लोगों को भ्रम में डालकर तुम्हारे ही हाथों तुम्हारी सेना का नाश किया—तुम अब भी वही करते चले जा रहे हो—तुम्हारा झंडा कहाँ है—राजकुमार का पता नहीं—जन्मभूमि के लिये लड़ने आये थे—यह क्या किया !' 'हम पहचान नहीं सके'—चारों ओर से यह शब्द होता है। पर्दा बदलता है—सिपाही चुपचाप खड़े देख पड़ते हैं—माया के सवार धर्मनाथ को घेर लेते हैं)

माया—वीरभद्र, देखते क्या हो, सर्वनाश हो गया, इस विश्वासघाती को दण्ड दो। मारो, मारो, खड़े क्यों हो ? (वीरभद्र तलवार उठाता है; माया बढ़कर वीरभद्र का हाथ पकड़ लेती है) —नहीं, जाने दो। यह एक नहीं, अनेक वर्ष जीवित रहे ! इसे मारकर अपने हाथ काले न करो। जाओ ब्राह्मण, तुमने विश्वास-घात किया। उफ ! कितना बड़ा पाप !

कई सैनिक—नहीं, कभी नहीं, इसे न छोड़ो—

माया—जाने दो सैनिको, क्षमा करो, यह अनन्त काल तक जीवित रहे ! सोते-जागते, सदैव, इसे विश्वासघात न भूले ! बढ़ो सवारो, खड़े होने का समय नहीं है; राजकुमार का पता नहीं—वह देखो, अशोक का हाथी देख पड़ता है, वहीं चलो ! यदि वहाँ पहुँच सकते—चलो, खड़े क्या हो ?

(माया, वीरभद्र और सवार घोड़ों की बाग छोड़ देते हैं)

(पर्दा गिरता है)

नवाँ दृश्य

युद्धभूमि—अशोक की छावनी

(घड़ी-भर दिन शेष; अशोक और चन्द्रसेन बैठे बातें कर रहे हैं)

चन्द्रसेन—तो सम्राट आज मृत्यु के समीप पहुँच चुके थे—

अशोक—हाँ मंत्रीजी, इसमें कोई सन्देह नहीं। केवल बीस सवार मेरी सेना के इतने बड़े समुद्र को पैरों से रौंदकर मेरे समीप पहुँच गये! उनमें भी वह बालक—क्या कहूँ—उसका कोमल शरीर—जिसे देखने से यह विश्वास नहीं होता कि वह फूल का बोझ भी सँभाल सकता है—बिजली की तरह चमकता हुआ—बिजली से भी तीव्र गति से—उन सबसे आगे—वह दृश्य अपूर्व था! वह बालक—जैसे आकाश-गंगा में खिला हुआ एक कमल, नन्दन-वन का एक पारिजात-पुष्पगुच्छ, मिलन की रात्रि का प्रथम चुम्बन था! जैसे इस भव-सृष्टि का नहीं था! उसने तलवार का एक हाथ मारा; मैं देखता ही रह गया—सारा शरीर शिथिल हो गया—तलवार उठानी चाही, उठ न सकी! उसी आघात से महावत गिर पड़ा! यदि अनन्त ठीक समय पर न पहुँच गया होता, तो अबतक तो मैं यमराज का अतिथि होता! उसके बाद—मैं यहाँ चला आया।

(माया का उसी वेश में ऐंटीपेटर के साथ प्रवेश)

ऐएटीपेटर—सम्राट, वह बालक पकड़ लिया गया। ऐसा युद्ध कभी नहीं देखा! केवल बीस सवार घूमकर खड़े हो गये। चारों ओर से आक्रमण होने लगा। एक भी सवार जिधर घूम पड़ता था, काटकर मैदान साफ कर देता था! सभी मारे गये, किन्तु मैं अनुमान करता हूँ, मेरे बीस सौ सैनिक मरे होंगे।

चन्द्रसेन—ऐसा युद्ध!

ऐएटीपेटर—हाँ, ऐसा युद्ध! मनुष्य जिसकी कल्पना भी

नहीं कर सकता, वही आज प्रत्यक्ष देखा! अन्त में जब यह बालक रह गया, मैंने युद्ध बन्द कर कहा—पकड़ लो; किसी का साहस नहीं हुआ! अन्त में इसने स्वयं हाथ बढ़ा दिया! कहा—पकड़ लो!

अशोक—बन्धन खोल दो।

बालक—ना सम्राट, यह नहीं हो सकता। मैं बन्दी हूँ, दया नही चाहता—

अशोक—नहीं, तुम्हें बन्दी करने के लिए जंजीर अभी नहीं बनी। (ऐंटीपेटर हाथ खोल देता है) तुम तलवार उठा सकते हो, मुझे विश्वास नहीं होता। मैंने जो देखा है, कदाचित् भ्रम हो। बालक, उठाओ तो तलवार। देखूँ, उठती है!

बालक—(आवेश में) आप मेरा अपमान कर रहे हैं। क्षत्रिय बालक हूँ, दया की भीख नहीं माँगता! जो दण्ड चाहे दीजिये; किन्तु इस भाँति अपमान न कीजिये। आपने मेरी तलवार अभी नहीं देखी सम्राट! (क्रोध से दाँत पीसता है)

अशोक—(ऐंटीपेटर से) इस बालक को अरुण के पास पहुँचाओ।

(बालक को साथ लेकर ऐंटीपेटर का प्रस्थान—बाहर शस्त्रों की झनकार और सैनिकों का कोलाहल सुन पड़ता है)

अशोक—यह छावनी में शस्त्रों की झनकार कैसी?

चन्द्रसेन—कुछ समझ में नहीं आता!

(नेपथ्य में—भागो, भागो)

अशोक—अयँ! यह क्या? (कान लगाकर सुनता है)

(नेपथ्य में—जय ! कुमार जयन्त की जय !!) यह कुमार जयन्त कौन ?

(वेग से ऐंटीपेटर का प्रवेश)

ऐण्टीपेटर—सावधान सम्राट, शत्रुओं ने छावनी पर आक्रमण कर दिया ! पहरे पर के सिपाही मारे गये !

(अशोक, चन्द्रसेन और ऐंटीपेटर का शीघ्रता से प्रस्थान—दूसरी ओर से पाँच सैनिकों के साथ जयन्त का प्रवेश)

जयन्त—ब्राह्मण ने विश्वासघात किया—नहीं, अब न लौटूँगा—लौट भी नहीं सकता—यदि एक बार अशोक कोपा जाऊँ—मातृभूमि की रक्षा न कर सका—माया, तुम्हारा क्या होगा—यह व्यर्थ की चिन्ता मृत्यु के द्वार पर क्यों हो रही है। (आगे बढ़कर देखते हुए) यही छावनी है; किन्तु कोई देख नहीं पड़ता !

एक सैनिक—नहीं, कोई नहीं है।

(नेपथ्य में—किधर गये, देखो, भागने न पायें)

जयन्त—सैनिको, शत्रु आ गये, अधिक क्या कहूँ। (धनुष पर तीर चढ़ाता है)

(दूसरी ओर से अशोक, चन्द्रसेन और ऐंटीपेटर तथा कई सैनिकों का प्रवेश—युद्ध होने लगता है, युद्ध करते हुए ये सब निकल जाते हैं ; क्षण-भर बाद एक ओर से जयन्त और दूसरी ओर से अशोक तथा ऐंटीपेटर का प्रवेश)

अशोक—यदि जीना चाहते हो, शस्त्र रख दो—

जयन्त—शस्त्र रख दूँ ? कायर कहीं का ! युद्धक्षेत्र से भाग क्यों आया ?

(अशोक को लक्ष्य कर बाण चलाता है)

(ऐंटीपेटर वाण रोकता है—वाण ऐंटीपेटर की छाती में चुभ जाता है और वह गिर पड़ता है—इतने ही में धर्मनाथ का प्रवेश)

धर्मनाथ—सावधान !

जयन्त—(घूमकर) तुम—यहाँ—विश्वासघाती—अच्छा, तो अशोक जिये, मैं तुम्हें ही मारूँगा। (तलवार खींचकर धर्मनाथ की ओर झपटता है; इतने में अशोक पीछे से तलवार मारकर उसे गिरा देता है)

ऐण्टीपेटर—यह अनुचित हुआ !

अशोक—क्या अनुचित हुआ ?

ऐएटीपेटर—यही; आपने पीछे से आघात किया !

धर्मनाथ—(जयन्त के समीप झुककर) मर गया !

(उन्मत्त की भाँति प्रस्थान)

अशोक—अन्त में तुमने मेरी रक्षा में ही प्राण दिया !

(आँखों में आँसू भर आता है)

ऐएटीपेटर—यही तो कर्त्तव्य था सम्राट—डायना—वह चाँदनी रात—वह चुम्बन—और वह दण्ड—

अशोक—क्या कह रहे हो ?

ऐएटीपेटर—चुप सम्राट, कुछ न बोलिये—यह मेरे जीवन का अमर संगीत है—आत्मा की चिरन्तन अनुभूति है—चिर-दिन की साधना है। डायना ! भीतर की इस प्यास को तुम क्या जानो—यदि जानती—

(एक ओर से डायना और मैकडीमस तथा दूसरी ओर से ऐंटी-ओकस का प्रवेश)

डायना—क्यों नहीं जानती—कहाँ वह बेक्ट्रीया और कहाँ

यह कलिंग—(ऐंटीपेटर के समीप पहुँचकर) ओह ! मेरे सर्वस्व—

ऐराटीपेटर—(बड़े कष्ट से देखकर) डायना—सम्राट और मैकडीमस—यहाँ इतनी दूर ! (आँखें बन्द कर लेता है)

ऐराटीओकस—मुझे क्षमा करो ऐराटीपेटर—

ऐराटीपेटर—(आँखें खोलकर क्षीण स्वर में) क्षमा सम्राट, मुझसे—अच्छा—मुझे क्षमा करो डायना—(बैठने का प्रयत्न करता है ; किन्तु बैठ नहीं सकता—मैकडीमस शीघ्रता से उसे अपनी गोद में लेकर बैठ जाता है)

ऐराटीपेटर—आह ! मेरे शैशव के साथी ! (आँखें मूँदकर) वे दिन—नहीं—(फिर आँखें खोलकर) मुझे क्षमा करो सम्राट—यौवन की अचेतनता में मैंने वह अपराध किया था !

ऐराटीओकस—नहीं, अपराध तुम्हारा नहीं, मेरा था। वह तुम्हारे जीवन-वन में वसन्त का प्रथम आगमन था। सुगन्ध का उड़ना—यह तो स्वाभाविक था—मैंने उसे दबाना चाहा। वो नव-स्वच्छन्द हृदयों के सम्मिलन का प्रथम संगीत था ! मुझे क्षमा करो—अपराध मेरा था।

ऐराटीपेटर—सम्राट !

ऐराटीओकस—समझ गया, तुम्हें संकोच हो रहा है। मेरे बच्चे ! मैंने तुम्हें पुत्र की भाँति माना था—मुझसे यह क्या हुआ—(डायना का हाथ पकड़कर ऐंटीपेटर के हाथ में देता है)

ऐराटीपेटर—यह क्या ?

ऐराटीओकस—केवल सन्तोष ! जिस बन्धन को तुम दोनों—बहुत दिन हुए—स्वीकार कर चुके थे, उसे मैं आज—

(ऐंटीपेटर आँखें बन्द कर लेता है, उसका सिर लटकने लगता है)

डा०—इसका कभी ध्यान नहीं हुआ! (मूर्च्छित होकर ऐंटीपेटर के चरणों पर गिर पड़ती है)

(यवनिका-पतन)

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

ताम्रलिप्ती में अशोक का राजमहल

(चाँदनी रात—अशोक पलँग पर बैठा हुआ आकाश की ओर देख रहा है)

अशोक—इस युद्ध में क्या मिला अनन्त ? जिसने दो बार मेरे प्राणों की रक्षा की, फिर भी मेरी ही रक्षा में मारा गया ! यह मेरी कितनी बड़ी हानि हुई ! सारे संसार का साम्राज्य भी मुझे मिल जाय, तो क्या इसकी पूर्त्ति कर सकता है ? नहीं, कदापि नहीं । जिस समय वह मेरे सामने आकर खड़ा हो जाता था, मुझे मालूम होता था, मानों संसार की सारी सहानुभूति मेरे समीप है । अभागा सम्राट हेरोडीटस की कन्या से प्रेम करने लगा था—इसी अपराध में उसे देश-निकाले का दंड मिला ! प्रेम करना भी अपराध है ? उस दिन उस युद्धभूमि में, जब अनन्त का अन्त समीप था, सम्राट ने अपना अपराध स्वीकार किया । डायना जैसे स्वर्ग की देवी है—वह सौन्दर्य और वह संस्कार ! अनन्त, यौवन की उसी तरंग में यदि डायना तुम्हें मिल गई होती, तो तुम्हारा जीवन कितना सुखी होता ? नहीं, जो होता, वह तो सदा के लिए चला गया ? उसका विचार नहीं—इससे क्या लाभ—

(देवी का प्रवेश)

देवी—युद्ध में विजयी होते ही प्रसन्नता के मारे तुम्हें नींद नहीं आती ! सो जाओ, आधी रात हो गई !

अशोक—जिस युद्ध में मैंने अनन्त को सदैव के लिए खो दिया, उसमें प्रसन्नता—

देवी—क्यों नहीं ? मरते समय भी यदि क्षत्रिय को विजय-समाचार मिल जाय, तो मारे प्रसन्नता के उसका जीवन बढ़ जाय—तुम्हीं तो कहा करते हो ? प्रसन्नता क्यों न होगी ?

अशोक—अबतक जो कुछ कहता आया हूँ, सच नहीं है। मैं भी सच नहीं हूँ, तुम भी सच नहीं हो।

देवी—मैं सच क्यों नहीं हूँ ? मैं जो कुछ कहती आई हूँ, सभी सच है। मैं भी सच हूँ, तुम भी सच हो। (अशोक का हाथ पकड़कर) सो जाओ—

अशोक—छोड़ो, नींद नहीं आती—

देवी—आती क्यों नहीं, देखो, मैं बुला देती हूँ। इस तरह सोओ, यहाँ सिर रखो, यहाँ हाथ—फिर इस ओर मुँह कर सो जाओ—(गले में हाथ डालकर अपने गले से चिपटाना चाहती है)

अशोक—(गले से हाथ निकालकर) देवी, तुम्हें समय-कुसमय का कुछ भी विचार नहीं है। इस समय यह व्यर्थ की बात अच्छी नहीं लगती—

देवी—व्यर्थ की बात—यह व्यर्थ की बात है ?

अशोक—नहीं तो और क्या—

देवी—(अशोक के दोनों हाथ उठाकर अपने गले में डालती हुई) क्यों नाथ, सच कहते हो, यह व्यर्थ की बात है ?

अशोक—क्यों तंग कर रही हो ? जाओ यहाँ से—(हाथ छुड़ा लेता है)

देवी—नहीं जाऊँगा । क्या करोगे ?

अशोक—अच्छा तो मैं जाता हूँ—(जाना चाहता है)

देवी—मुझसे रुष्ट हो गये नाथ ? न जाओ—मेरे साथ एक रात भी नहीं रह सकते ?

अशोक—नहीं, तुम्हारे साथ एक रात भी नहीं रह सकता—(प्रस्थान)

देवी—चले गये ! अच्छा, जाओ—इतना अपमान ? मैंने तुमको जो कुछ दिया है, उसके बदले में यही तो चाहती हूँ; किन्तु नहीं, अब वह भी नहीं चाहूँगी—(सोचकर) जिस समय वह मेरी ओर देख लेते हैं—मेरे हृदय में वही इच्छा उठ पड़ती है । यदि उसे दबा पाती—स्त्री का हृदय इतना कोमल क्यों बनाया जगदीश ! प्रेम की थोड़ी-सी आँच लगने पर ही वह पिघल उठता है ! मेरे साथ एक रात भी नहीं रह सकते ! यदि उन्हें इच्छा नहीं होती, तो मुझे क्यों होती है ? (वेग से प्रस्थान)

(अशोक का प्रवेश)

अशोक—देवी ! (इधर-उधर देखकर) नहीं है—चली गई ! जिस दिन मैंने अनन्त के समीप मूर्च्छित डायना को देखा, उसी दिन से इस नारी-जाति के प्रति मेरे हृदय में एक विशेष प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न हो गई है । मैं आज उससे कुछ कठोर हो गया, अच्छा नहीं हुआ । कितनी सरल है—जैसे संसार की जटिलता उसके समीप नहीं पहुँची ।

(साधारण वस्त्र पहने-बाल खोले—भूषण उतारे—देवी का प्रवेश)

अशोक—(विस्मय से) यह क्या देवी, इतनी जल्दी क्या हो गया ?

देवी—कुछ नहीं नाथ ! वही हुआ, जो बहुत पहले ही होना चाहिये था। (सन्तोष के स्वर में) हुआ वही, किन्तु बड़ी देर में।

अशोक—क्या कह रही हो देवी ! मैं कुछ न समझ सका।

देवी—न समझ सके, अच्छा ही हुआ। अब समझकर ही क्या होगा ? (जाना चाहती है)

अशोक—कहाँ जा रही हो देवी, यहाँ आओ।

देवी—नहीं, अब न आऊँगी।

अशोक—न आओगी—क्यों नहीं आओगी ?

देवी—नहीं नाथ, तुम्हारे साथ रहने की इच्छा नहीं होती।

अशोक—क्यों नहीं होती देवी ?

देवी—इसका कोई उत्तर नहीं है—अशोक ! तुम नहीं जानते, इस हृदय पर तुमने कितना अत्याचार किया है। जीवन के वे दिन—जब इच्छा होती थी, सदैव तुम्हारे साथ लगी रहूँ ! न मालूम कितनी रातें जागकर तकिये के सहारे आकाश देखते बीत गईं—मेरे यौवन के वसन्त में जो सुगन्ध उड़ी थी, तुमने उसकी ओर देखा भी नहीं !

(जाना चाहती है)

अशोक—मुझसे भूल हुई थी ! क्षमा करो, अपने भिखारी को भीख न दोगी ?

देवी—मैं क्षमा करूँ तुम्हारी स्त्री होकर? तुम सदैव मेरे निकट विजयी हो!

(अशोक उसका कन्धा पकड़कर हिला देता है)

अशोक—क्यों, मुझसे रूठ गई थी?

देवी—नहीं, कहाँ रूठ सकी?

(दोनों का प्रस्थान; पुरुष-वेश में माया का प्रवेश)

माया—मेरे लिए मृत्यु नहीं है! माता मर गई—जब केवल एक वर्ष की थी। पिता छोड़कर चले गये—भाई मारे गये—इतने पर भी जीवित हूँ—मेरे लिए मृत्यु नहीं! इसी अवस्था में यह सब देखना पड़ा! यह विशाल विश्व मेरे लिए—नहीं, यहाँ मेरा कौन है? चारों ओर देखती हूँ, किसी की आँख में अपनी ओर कुछ भी सहानुभूति नहीं पाती—सब मेरी ओर कौतूहल से देखते हैं—मैं सिर नीचा कर लेती हूँ! (कुछ सोचकर) अरुण आज सम्राट का लड़का होता—नहीं, तो—उसके पिता साम्राज्य छोड़कर चले गये। इस कारण अब वह भी अपनेको अभागा कहता है। वह बड़ा भावुक है—सदा आकाश की ओर देखा करता है। न मालूम मैं उसमें क्या कुछ आत्मीयता अनुभव करती हूँ!

(अरुण का प्रवेश)

अरुण—क्यों मित्र, तुमको अपने ऊपर दया नहीं आती? जब कभी देखता हूँ; रात को इसी भाँति किसी गहरी चिन्ता में पड़े रहते हो। तुम्हारा यह कोमल शरीर—इस भाँति तुम्हारा

जीवन कितने दिन चल सकता है—तुमने कभी इसपर विचार नहीं किया ?

माया—राजकुमार, मैं आपके यहाँ बन्दी हूँ—आप मेरा ध्यान रखते हैं, मेरे बड़े सौभाग्य की बात है। (सोचकर) यह जीवन न चले राजकुमार, मैं यही चाहता हूँ।

अरुण—यह न कहो मित्र कि तुम मेरे यहाँ बन्दी हो। यदि तुम मेरे बन्दी हो, तो मैं भी तुम्हारा बन्दी हूँ। ईश्वर जानता है, मैं तुमसे अधिक किसी से प्रेम नहीं करता—

माया—आप मुझसे प्रेम करने लगे हैं—राजकुमार! इतनी जल्दी—

अरुण—जिससे प्रेम होने को होता है, उससे तो प्रथम दर्शन से ही हो जाता है। इसके लिए अधिक समय नहीं लगता।

(माया आकाश की ओर देखने लगती है)

अरुण—ऊपर क्या देख रहे हो ?

माया—देख रहा था—तारे आज भी उसी जगह है या नहीं—जिस जगह कल थे।

अरुण—(हँसकर) क्यों, हैं, या नहीं ?

माया—हैं तो।

(नेपथ्य में— अरुण —)

अरुण—माँ बुला रही है, अभी आता हूँ—(प्रस्थान)

माया—यह राजकुमार जिस दिन जानेगा कि मैं पुरुष नहीं हूँ, उस दिन—नहीं, यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। मैं इसे दबाऊँगी। संसार में मेरे लिए सुख कहाँ !

दूसरा दृश्य

नदी-तट

(समय—सन्ध्या; सर्वदत्त अकेले बैठे हैं)

सर्वदत्त—अशोक की विजय हुई, जयन्त मारा गया! पुत्र मर गया—मैं पिता अभी जीवित हूँ! इसमें दुःख क्या है? जयन्त ने अनेक बार जन्म लिया होगा, बार-बार मरा होगा—यही तो नियम है। किन्तु माया—उसका कहीं पता नहीं! मेरी अबोध बालिका संसार के किस कोने में भटकती होगी, कितना कष्ट उससे सहा जा सकता है! (कुछ सोचकर) जिसकी इच्छा के विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिलता, वह जगदीश उसकी रक्षा—मैं चिन्ता करके भी क्या कर सकता हूँ। मेरी शक्ति ही कितनी!

(पागल की भाँति डायना का प्रवेश)

डायना—इतनी दूर क्यों आई—जब यही होना था। आह! कितना परिवर्त्तन हो गया, जैसे मैं वह नहीं हूँ! यह सारा संसार वह नहीं है! तुमने मुझसे प्रेम क्यों किया—क्यों किया—ऐएटीपेटर! सुना है, प्रेम से मनुष्य अमर होता है, और तुम मरे केवल प्रेम से! यदि प्रेम न करते, तो अभी न मरते! अपने हृदय में रखती हुई भी मैं तुम्हें न बचा सकी! भीतर के इस प्रणय-कुंज के कोकिल! अभी वसन्त नहीं गया, और तुम चले गये! (मैकडोमस का प्रवेश)

मैकडीमस—राजकुमारी!

डायना—कौन है—राजकुमारी—मैकडीमस?

मैकडीमस—क्यों—आप—!

डायना—हूँ—मैं राजकुमारी हूँ; इसी लिए तो इतना कष्ट है। यदि यह न होती—तो—नहीं, फिर भी यही विचार? देखो मैकडीमस—मैकडीमस, मुझे राजकुमारी न कहना।

मैकडीमस—क्यों राजकुमारी?

डायना—हाय रे संसार! हृदय की गहरी वेदना के भीतर से जो आह निकल पड़ती है, तू उसे भी सच नहीं मानता! और वहाँ भी—क्यों मैकडीमस—मैंने जो कुछ कहा है, स्वयं-सिद्ध है। उसे सिद्ध करने के लिए किसी 'क्यों' की आवश्यकता नहीं। समझे? मुझे राजकुमारी न कहना।

मैकडीमस—अच्छा, न कहूँगा।

डायना—अच्छा—न कहोगे। हाँ—न कहना (हँसती हुई एक ओर चली जाती है)

मैकडीमस—राजकुमारी पागल हो गई! (उसी ओर प्रस्थान

(अशोक का प्रवेश—साथ में दो सिपाही)

अशोक—इस युद्ध का यह भी परिणाम हुआ—राज-कुमारी 'डायना' पागल हो गई!

एक सिपाही—(सर्वदत्त के समीप पहुँचकर) क्यों जी, तुम्हारा घर कहाँ है?

सर्वदत्त—कलिंग

सिपाही—कलिंग! जानते नहीं हो, कलिंग जीत लिया गया? इस समय वह अशोक के अधिकार में है। सम्राट अशोक वह सामने खड़े हैं, और तुम बैठे हो!

सर्वदत्त—सम्राट अशोक—अच्छा, मैं उठता हूँ! (अशोक के समीप पहुँचकर) महाराज की जय हो!

अशोक—कहाँ तुम्हारा स्थान है संन्यासी?

सर्वदत्त—महाराज! कलिंग—

अशोक—इस युद्ध के समय तुम वहाँ थे?

सर्वदत्त—था। मैंने युद्धक्षेत्र में उस वीभत्स व्यापार को—उस भयंकर हत्याकाण्ड को, जिसमें लाखों मरे थे और लाखों अन्तिम साँसें ले रहे थे—अपनी आँखों देखा था। इस युद्ध में आपकी आन्तरिक तृप्ति हुई सम्राट, या और कुछ इच्छा है?

अशोक—(आवेश से) कौन हो संन्यासी, तुम किससे ऐसी बातें कर रहे हो?

सर्वदत्त—डर क्या है सम्राट? मुझे और किसी का नहीं, केवल डर का डर है—डर मेरे पास न आये, मुझे इसी का डर है। मैंने जो कुछ कहा, सत्य कहा है सम्राट! आतंक सत्य को दबाने में सफल नहीं हो सकता—कभी हुआ नहीं है! और फिर, जो आप है—वही मैं हूँ। न आप सम्राट हैं और न मैं संन्यासी हूँ। यह अन्तर केवल भ्रम है! जो वस्तु तलवार से ली जाती है, वह तलवार से ही शासित होती है। यह विजय 'विजय' नहीं है—विजय वह है, जो मनुष्य की आत्मा में ईश्वरीय प्रकाश की किरण फेंके; और वह विजय प्रेम से स्थापित होती है—तलवार से नहीं। यदि विजयी होना चाहते हो सम्राट, तो सृष्टि के एक-एक कोने में प्रेम का सन्देश

भेजो। इसमें सफल हो सको, तो अनन्त काल के लिये विजयी बने रहोगे। (प्रस्थान)

अशोक—आज गुरुमंत्र मिल गया! प्रयत्न करूँ, देखूँ—कर सकता हूँ—

तीसरा दृश्य

राजगृह की पहाड़ी

(समय—दोपहर; धर्मनाथ और भिक्षु के वेश में गिरीश)

धर्मनाथ—तुम्हें क्या हो गया—तुम भिक्षु बन गये!

गिरीश—अब तक आपका साथ दिया, अब न दूँगा। जब मैं पीछे घूमकर देखता हूँ, मेरा हृदय काँपने लगता है। मैंने अपनी ही आत्मा पर कितना अत्याचार किया है! धर्म का कल्याण होगा—आप बार-बार यही करते रहे; किन्तु अब अन्धा नहीं हूँ। इस युद्ध में मेरी आँखें खुल गईं।

धर्मनाथ—तुम क्या समझोगे मूर्ख—इन बातों को—धर्म के कल्याण के लिए कभी-कभी ऐसे कार्य करने पड़ते हैं, जो देखने में अधर्म प्रतीत होते हैं।

गिरीश—तब आपका धर्म कोई दूसरा होगा! सब पूजन-पठन-हवन आपने छोड़ दिया! किस नये धर्म का अनुकरण आप करते हैं, मेरी समझ में नहीं आता।

धर्मनाथ—तुम इसे नहीं समझ सकते।

गिरीश—हाँ, क्योंकर समझ सकता हूँ! आपने युद्ध कराकर लाखों निरपराधों की हत्या कराई—लाखों युवतियों को

विधवा और लाखों माताओं को पुत्रहीना कर दिया—आपके इस महान धर्म को मैं किस प्रकार समझ सकता हूँ !

धर्मनाथ—चुप रहो, सावधान ! बोलना मत।

गिरीश—क्यों क्रुद्ध होते हो ब्राह्मण ? तुम्हारी इन लाल आँखों का मूल्य मेरे सामने कुछ भी न रहा। तुमने जितने कुत्सित कार्य किये हैं, उन्हें एक बार सुन लो, तब आँखें दिखाओ। देखूँ, उन्हें सुनकर भी तुम आँखें दिखाते हो—तुम्हें पछतावा नहीं होता। सम्राट बिन्दुसार से मिलकर अशोक को उज्जैन भेजा—विमला को सहायता देकर ऐएटीपेटर को मरवाना चाहा—राजकुमार भवगुप्त के मारने की भी इच्छा थी, जिसे जानकर बेचारा राजकुमार राज्य छोड़कर कहीं चला गया—राजदूत जगतसूर को प्रलोभन देकर भरी सभा में यह कहला दिया कि 'कलिंग में मेरा अपमान हुआ', यद्यपि यह बात सत्य न थी, जगतसूर कलिंग गया ही न था—जिसका परिमाण यह युद्ध हुआ—उफ ! कितना बड़ा विश्वासघात ! ब्राह्मण, तुम्हारा यह अन्तिम अपराध कहा भी नहीं जाता—इतना बड़ा अपराध कभी किसी ने किया अथवा नहीं ! कलिंग के अबोध राजकुमार को बातों में फँसाकर उसकी सेना के सेनापति बन बैठे, और अन्त को युद्धभूमि में विश्वासघात कर उसी राजकुमार की सेना पर आक्रमण कर दिया—इतना ही नहीं, राजकुमार की मृत्यु के कारण बने ! तुम्हारे अपराधों के स्मरण करने से भी पाप लगता है—धूर्त्त अत्याचारी ! आँखें दिखाते हो ? अपने पापों से दब नहीं मरते ?

अशोक—(धीरे से आगे बढ़कर) जो कुछ कहा है, क्या सभी सत्य है? (देखकर) अयँ! आप इस वेश में?

गिरीश—जिस धर्म की आड़ में इतना अनाचार हो गया, उससे चित्त हट गया—वह सामने बुद्धदेव बुला रहे हैं—वहीं शान्ति है। जो कहा, सभी सत्य कहा—(धर्मनाथ से) क्यों धर्मराज, है ठीक न? धर्मराज, झूठ न बोलना।

धर्मनाथ—हाँ सत्य है, सभी सत्य है।

अशोक—सत्य है? यह मैंने क्या किया, भविष्य का संसार मुझे कितना पापी कहेगा? मालूम होता है! जैसे पृथ्वी पैरों तले से खिसक रही है, आकाश काँप रहा है! मैंने कितना पाप किया—लाखों हत्याएँ हुईं, एक बहुत प्राचीन राजवंश का नाश हो गया! उफ़, इच्छा होती है—ब्राह्मण—गुरुमंत्र ले चुका हूँ—विश्वप्रेम का उपासक होकर तुमको दण्ड नहीं दे सकता। जाओ ब्राह्मण, मैंने तुम्हें क्षमा किया। मेरा तुमसे कोई विरोध नहीं, विरोध है तुम्हारे इन कुत्सित कार्यों से—

(भवगुप्त का प्रवेश)

भवगुप्त—मैंने तुमसे कभी कहा था ब्राह्मण, यह तुम्हारी जय नहीं—पराजय है। जिस दिन तुम्हारा यह स्वप्न समाप्त होगा, उस दिन देखोगे—कितने नीचे गिरे हो; तुम तब भी नहीं सँभले! उसका फल देखो ब्राह्मण, क्या हुआ? ईश्वर की सृष्टि पर इतना मनमाना अत्याचार कबतक चल सकता था? उस अनन्त शक्ति के सामने मनुष्य कैसे खड़ा रह सकता है? मनुष्य सोचता कुछ और है, और वह ईश्वर करता कुछ

और है ! चेत करो ब्राह्मण, अभी बहुत समय है। जन्म-भर के पाप एक क्षण के पश्चात्ताप में धुल सकते हैं—यदि पश्चात्ताप सत्य हो—(जाना चाहता है)

अशोक—(झट आगे बढ़कर) मुझे क्षमा करो।

भवगुप्त—तुम्हारा अपराध क्या है ?

अशोक—तुम्हें मेरे लिए राज्य छोड़ना पड़ा।

भवगुप्त—नहीं, तुम्हारे लिए नहीं; मुझे अपने लिए राज्य छोड़ना पड़ा ! राज्य छोड़ने से मुझे जो मिला है, सारे संसार का साम्राज्य भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता।

अशोक—अच्छा, पाटलीपुत्र—

भवगुप्त—चलूँगा; किन्तु इस समय नहीं जा सकता। जिस बन्धन को तोड़ चुका हूँ, उसके समीप सँभल कर जाना होगा—
(प्रस्थान)

अशोक—यह सब क्या हो रहा है, कुछ समझ में नहीं आता—(प्रस्थान)

धर्मनाथ—गिरीश !

गिरीश—क्या है ?

धर्मनाथ—यह सब क्या हो रहा है ?

गिरीश—कुछ समझ में नहीं आता !

चौथा दृश्य

पाटलीपुत्र—गंगातट

(नदी के उस किनारे धीरे-धीरे चन्द्रमा ऊपर उठ रहा है, पुरुष-वेश में माया और अरुण—बैठे हैं)

अरुण—नदी के उस किनारे से धीरे-धीरे चन्द्रमा ऊपर

उठ रहा है—कैसा सुन्दर दृश्य है! उसकी किरणें कितने प्रेम से नीचे उतरती चली आ रही हैं, जैसे नदी उसकी प्रेयसी है, और वह उससे मिलने के लिए हाथ बढ़ा रहा है! चन्द्रमा के चारों ओर काले बादल के टुकड़े हैं। उनके बीच-बीच से प्रकाश निकलकर आकाश में फैल रहा है। यदि कोई चित्रकार यही दृश्य अंकित करने में समर्थ हो सके तो संसार उसकी प्रशंसा करने में न थके—नहीं तो प्रकृति में यह दृश्य नित्य आता है और चला जाता है, कोई देखनेवाला नहीं; कोई सत्य की ओर नहीं देखता—सभी मिथ्या की आराधना करते हैं—

माया—चुप भी रहो, एक ही साँस से इतना कह गये, जैसे तुम्हारे अधरों से कविता का प्रवाह बह रहा है! तुम भीतर-बाहर पूरे कवि हो!

अरुण—चाहे और किसी के लिए हूँ या नहीं, परन्तु तुम्हारे लिए तो अवश्य हूँ—क्यों, है न—?

माया—हाँ, इसलिए कि मैं तुम्हारे इतना समीप हूँ। जो तुम्हारे इतना समीप रहेगा उसके लिए भी तुम ऐसे ही कवि रहोगे।

अरुण—अच्छा, सुनो। यह तरुण किशोर लहर, जो मेरे समीप खड़ी है, मालूम हो रहा है, किसी सुदूर देश से—मार्ग में अनेक रात्रि जागरण करती हुई—आ रही है, केवल मुझसे मिलने के लिए! इसके होंठ सूख गये हैं—जैसे कुछ कहना चाहती है, कह नहीं पाती। कितने रक्तिम हो रहे हैं लज्जा से इसके दोनों कपोल! मेरी ओर देख रही है—इसकी दोनों

उत्सुक आँखों में जैसे माया का सारा संसार बन्द है! तुम इधर देख नहीं रहे हो, क्या देख नहीं पाते?

माया—मैं देख रहा हूँ तुम्हारी ओर। मुझे तुम्हारी ही आँखों में साधना का सारा संसार देख पड़ता है। यह तुम इतना कह गये, मैं कुछ भी न सुन सका। मैं बराबर तुम्हारी आँखें देख रहा हूँ, जिनके द्वारा तुम्हारा हृदय अभिव्यक्त हो रहा है।

अरुण—मेरी आँखें देख रहे हो—उनमें क्या है?

माया—उनमें क्या नहीं है? विश्व के अनन्त काव्य का सारभूत सौन्दर्य जैसे तुम्हारी आँखों में सो रहा है, और उसे चारों ओर से घेरे हुए है—यौवन-ज्वर का उन्माद! तुम्हारा हृदय जीवन की मधुर-करुण कविता का आवाहन करना चाहता है। यह भाव तुम्हारी आँखों के अंग-प्रत्यङ्ग को सजा रहा है। तुम्हारी आँखों में जो कुछ है, उसके समीप भाषा नहीं पहुँच सकती। यह अनुभव करने की वस्तु है, कहने की नहीं। जीवन कितना मधुर है, तुम्हारी आँखें देखते ही उसका अनुभव होने लगता है। संसार की मानव-जाति की भाव-राशि तुम्हारी आँखें हैं।

अरुण—(गम्भीरता से) हूँ—यह सब तुम क्या कह गये, मेरी समझ में कुछ नहीं आया! एक चिन्ता में पड़ गया —जैसे किसी अभाव का अनुभव करने लगा! वह अभाव— अब उसकी पूर्त्ति होनी चाहिये—(हँसकर) क्यों चाहिये न?

(माया चुप रहती है)

अरुण—जब कोई बात सीधे मेरे हृदय से निकलती है, तुम उसका उत्तर नहीं देते—किसी गहरी चिन्ता में पड़ जाते हो। मैं बराबर देखता आ रहा हूँ; किन्तु—क्यों—कुछ समझ में नहीं आता।

(अशोक का प्रवेश)

अशोक—यह युद्ध अकारण हुआ, इसका मुझे बड़ा पश्चात्ताप है।

माया—होगा—सम्राट, किन्तु मेरे लिए—उफ! पिता राज्य छोड़कर कहीं चले गये, और बड़े भाई मारे गये!

(आकाश की ओर देखकर नीचे देखने लगती है)

अशोक—जो बीत गया राजकुमार, फिर लौट नहीं सकता—कोई वश नहीं—मुझे क्षमा करो। मैं पश्चात्ताप से मरा जाता हूँ—

माया—ठीक है सम्राट, लौट नहीं सकता। अच्छा सम्राट, मुझे आपके यहाँ बन्दी रहना पड़ेगा—अभी कब तक?

अशोक—बन्दी? नहीं राजकुमार, तुम मेरे यहाँ बन्दी नहीं हो। तुम जिस दिन चाहो, मेरे यहाँ से जा सकते हो। किन्तु जल्दी क्या है, कुछ समय और ठहर जाओ राजकुमार। तुम्हारे राज्य की ठीक व्यवस्था कर तुम्हें सौंप दूँगा। कलिंग तुम्हारा है—जिस दिन चाहो, ले लो—(प्रस्थान)

अरुण—(माया का हाथ पकड़कर) क्यों मित्र, तुम चले जाओगे? मुझे छोड़कर जाने की इच्छा होती है?

(माया का शरीर काँप उठता है)

अरुण—(विस्मित होकर) क्यों ? तुम काँप क्यों उठे ? क्या तुम मुझे इस योग्य नहीं समझते कि मैं तुम्हारी बाँह पकड़ सकूँ ?

माया—तुम्हें इस योग्य समझकर ही तो काँप उठा ! नहीं तो न मालूम कितनों ने मेरा हाथ पकड़ा, किन्तु काँपने का अवसर और कभी नहीं आया।

अरुण—मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ !

माया—और मैं भी बड़ा भाग्यवान् हूँ !

अरुण—किन्तु तुम तो मुझे छोड़कर चले जाओगे।

माया—क्या करूँ कुमार, कोई बस नहीं है। कब तक तुम्हारे यहाँ पड़ा रहूँगा ?

अरुण—मैं—नहीं—मैं तुमसे अलग न रहूँगा। जहाँ रहोगे, वहीं रहूँगा।

माया—यदि यह होता—(कुछ सोचकर) यदि यह होता—

अरुण—क्या होता मित्र ?

माया—हमजोगों का साथ रहता !

पाँचवाँ दृश्य

एक टूटा हुआ मन्दिर

(डायना अकेली गा रही है)

कितनी दूर विकल चलकर ये मेरे अश्रु अधीर—
आज चेतनाहीन गिर रहे किस तटिनी के तीर !
विकल विश्व की श्वास, अरे यह विकल पवन-संगीत—

विकल इस अन्तरिक्ष का क्रन्दन—
विकल आज है आकुल उर का स्पन्दन !
विकल प्रलय की रजनि, विकल सम्मिलन-तपोवन—
विकल अरे अनुरक्ति हृदय की, विकल सुमन-शृंगार !
विकल आज परिमल नन्दन का, विकल विहाग-मलार !

(गीत समाप्त होते ही ऊपर देखने लगती है; ऐंटीओकस का प्रवेश)

ऐएटीओकस—देश को लौट चलो बेटी !

डायना—लौट चलूँ—कहाँ—देश को—देश कहाँ है—पिताजी ?

ऐएटीओकस—बैक्ट्रीया ।

डायना—बड़ी दूर है ! वहाँ पहुँच सकूँगी ?

ऐएटी०—पहुँच क्यों न सकोगी ? वहीं से तो यहाँ आई ।

डायना—वहीं से यहाँ आई; किन्तु आई थी उमंग की आँधी पर चढ़कर ! जाऊँगी कैसे ? और वहाँ कहाँ से आई थी पिताजी ? चलिये वहीं—चलें वहाँ जहाँ से आई थी ।

(हँसने लगती है)

ऐएटीओकस—फिर पागल हो गई ! जब कभी होश में आती है, मालूम होता है, अच्छी हो गई; बीच-बीच में यह पागलपन कहाँ से आ जाता है !

डायना—(गाने के स्वर में)

कितनी दूर विकल चलकर ये मेरे अश्रु अधीर—

हूँ—जहाँ से आई—वहीं चलना है । चलोगे ऐएटीपेटर ? तुम भी वहाँ चलोगे ? नहीं, आना मत निष्ठुर ! मैं अपने उस

देश में किसी विदेशी को नहीं रखूँगी। किन्तु विना तुम्हारे वहाँ प्रकाश भी कौन करेगा ? अँधेरे में रहना तो नहीं चाहती ! जिस समय तुम मेरे नेत्रों से अलग होओगे, मैं समझूँगी, आकाश से चन्द्रमा चला गया !

(मैकडीमस का प्रवेश)

मैकडीमस—कैसा दृश्य है—बूढ़ा पिता अपनी पागल लड़की को समझा रहा है ! कैसा दृश्य है—एक बार तुम भी देख लो जगदीश ! कदाचित् यह दृश्य अभी तुम्हें भी न देखना पड़ा हो।

ऐएटीओकस—यह तुमने क्या कहा मैकडीमस ?

मैकडीमस—कहा क्या सम्राट्—

ऐएटीओकस—क्षमा माँगो—मैकडीमस, उस अनन्त शक्ति से क्षमा माँगो। तुमने यह कहकर उस जगदीश का अपमान किया। जो जीवन और मरण के इस चक्र को अपने इच्छानुसार घुमा रहा है, उसने क्या देखा होगा और क्या नहीं देखा होगा—मनुष्य का इतना साहस कि वह इसका विचार करे !

मैकडीमस—मैंने विचार नहीं किया। यह आवेग सहसा हृदय से निकल पड़ा !

ऐएटीओकस—सहसा निकल पड़ा ! फिर न निकले—वह दयामय जो कुछ करता है, सब भलाई के लिए करता है।

मैकडीमस—डायना पागल हो गई, इसमें क्या भलाई है सम्राट ?

ऐंटीओकस—हाँ, होगी—अवश्य होगी। तुम उसे समझ

नहीं रहे हो। तुम समझते हो, जीवन और सुख अच्छा है—मरण और दुःख नहीं; परन्तु जीवन और सुख तभी तक अच्छा है, जबतक मरण और दुःख है। सृष्टि बिना प्रलय के चल नहीं सकती। और फिर, जिसने दिन-रात बनाया है—चन्द्र-सूर्य बनाया है—मरुस्थल और सागर बनाया है—नदी और पर्वत बनाया है, और बनाया है आकाश के कोटि-कोटि प्रकाशमय नक्षत्र! तुम हाड़-मांस के पुतले, किस अधिकार से उसके न्याय में सन्देह कर सकते हो? जिसके तुम हो, उसी का यह सारा संसार है! समझे?

(डायना वेग से बाहर आकर आकाश की ओर देखती है)

डायना—(आकाश की ओर देखती हुई) बचाओ—बचाओ, ऐएटीपेटर लड़ रहा है—शत्रु चारों ओर से आघात कर रहे हैं!

मैकडोमस—(समीप जाकर ऊपर देखता हुआ) क्या कह रही हो? कहीं कोई नहीं है!

डायना—देखते नहीं, वे शत्रु उसपर आघात कर रहे हैं—वह किस वीरता से लड़ रहा है! एक-दो-तीन—रक्त निकल रहा है—ओ, तलवार मुझे दो (हाथ बढ़ाती है)। नहीं दोगे? न दोगे? पैर लड़खड़ा रहे हैं—गिरा—वह गिरा!

(मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है)

ऐएटीओकस—मैकडोमस!

मैकडोमस—सम्राट!

ऐएटीओकस—क्या करूँ?

मैकडीमस—कुछ न कीजिये—देखिये वह जगदीश क्या करता है।

ऐएटीओकस—हाँ, यही हो—और क्या होगा—

(पर्दा गिरता है)

छठा दृश्य
पाटलीपुत्र की सड़क

(प्रातःकाल—कई नागरिक आपस में बात कर रहे हैं)

पहला—सम्राट को इस युद्ध का बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है।

दूसरा—हाँ, तभी तो यह आज्ञापत्र निकला है कि इधर दो मास तक नगर में कोई उत्सव न हो।

तीसरा—उत्सव हो! अरे भाई, आओ हम सब मिलकर रोवें! (ऐं-ऐं ऐं—रोने का स्वांग करते हैं—फिर रोना बन्द कर) तुम लोग रोते क्यों नहीं?

चौथा—बड़े पागल हो। हम क्यों रोवें?

तीसरा—हाँ, तब करोगे क्या? हँसो या रोओ। हँस तो सकते नहीं—सम्राट का आज्ञापत्र निकला है! अब शेष रहा रोना—रोओगे न तो करोगे क्या?

पहला—क्यों भाई, हँसना या रोना—केवल यही दो बातें हैं, या और कोई तीसरी बात है?

तीसरा—नहीं, तीसरी बात क्या है?

चौथा—सम्राट ने यह भी आज्ञा दी है कि पाटलीपुत्र की सड़क पर कोई खुली तलवार लेकर न चले। इससे मनुष्य

एक दूसरे पर विश्वास न कर सन्देह करने लगता है। (तीसरे से) अब तुम एक बात करो ; साड़ी पहनकर हाथों में चूड़ियाँ और पैरों में छड़े पहन लो—इस तरह सड़क पर छमछम करते चलो—

तीसरा—यह क्यों करूँ ?

चौथा—हाँ, तब करोगे क्या ? या तो पुरुष-रूप में खुली तलवार लेकर चलो, या नारी-रूप में कड़े या छड़े पहन लो। तलवार लेकर तो चल नहीं सकते—सम्राट का आज्ञापत्र है ! अब शेष रहा—कड़े और छड़े पहनना—पहनोगे न तो करोगे क्या ?

दूसरा—हा—हा—हा—हा ! अच्छा रहा ! कहो बाबू, अब क्या कहते हो ?

पहला—कहेंगे क्या ? घूँघट से मुँह तोपेंगे !

तीसरा—तुम लोग भी पहनो।

चौथा—हमलोग क्यों पहनें ? हमलोग हँसेंगे नहीं, तो रोवेंगे भी नहीं; और तुम—हँसोगे नहीं, तो रोओगे। हम लोग तलवार लेकर नहीं चलेंगे, तो कुछ लेकर नहीं चलेंगे, और तुम तलवार लेकर नहीं चलोगे, तो कड़े और छड़े पहनकर चलोगे ! क्यों, है ठीक न ?

(तीसरे को छोड़कर सब एक साथ जोर से हँस पड़ते हैं)

तीसरा—अच्छा तो बताओ, सम्राट ने आजकल मांस खाना क्यों छोड़ दिया है।

चौथा—(हँसकर) देखो, फँस गया था—अब जी छुड़ा रहा है !

दूसरा—-जाने दो भाई, छोड़ दो—-बहुत हुआ। (तीसरे से) कहो जी, क्या कहते हो ?

तीसरा—मैं कह रहा था—सम्राट ने आजकल मांस खाना छोड़ दिया है। क्षत्रिय होकर मांस न खाना—यह कहाँ लिखा है !

चौथा—तो तुम समझते हो—मांस खाना क्षत्रिय का धर्म है ? जो क्षत्रिय मांस नहीं खाता, वह अपना धर्म पूरा नहीं करता ?

तीसरा—हाँ, तब क्या—

चौथा—तो यह तुम्हारी भूल है। किसी भी जीव को मारने का अधिकार तुम्हें या तुम्हारे सम्राट को क्या है ? जो जीव मारा जाता है, क्या उसे पीड़ा नहीं होती ? मांस खाना अधर्म है, धर्म नहीं। सम्राट ने अच्छा किया जो मांस छोड़ दिया।

(एक शव लिये कई आदमी आते हुए देख पड़ते हैं; 'रामनाम सत्य है' सुन पड़ता है)

पहला—सब इधर निकल आओ, वह मुर्दा आ रहा है।

तीसरा—-इधर हटकर खड़े हो जाओ, किसी दूसरी ओर जाने का क्या काम है।

चौथा—देखते नहीं, कितनी भीड़ है। रास्ता रोककर खड़े होगे—समझ को कहीं गिरों तो नहीं रख आये हो ?

तीसरा—अच्छा, चलो—तुमलोगों ने तंग कर डाला !

चौथा—इसमें तंग करना क्या है ? हमलोग जाते हैं, तुम रास्ते में लेट जाओ !

(सब चलते हैं—पीछे से तीसरा भी जाता है शव उठाये हुए कई आदमी प्रवेश करते हैं और चले जाते हैं; पीछे से खाली हाथ भी कई आदमी आते हैं और चले जाते हैं ; सबके पीछे गिरीश और चन्द्रसेन का प्रवेश)

गिरीश—इस तरह विष खाकर धर्मनाथ ने आज रात को आत्महत्या की !

चन्द्रसेन—हूँ ! विष खाकर—ब्राह्मण पर अपनी असफलता का बड़ा आघात पहुँचा !

गिरीश—मैं उस समय वहीं था—उनका अन्त निकट आ रहा था—रह-रहकर उनका शरीर काँप उठता था—जैसे कोई बड़ी भयानक वस्तु देख रहे हों ! आँखें बन्द थीं ! कभी-कभी जैसे मुस्करा पड़ते थे—उसे स्मरण कर अब भी मेरा हृदय भय से काँप उठता है ! अन्त में आँखें खोलकर कहा—गिरीश, जानते हो, मैं कौन हूँ ? मैंने कहा—हाँ, जानता क्यों नहीं हूँ ; इतने दिनों से यही तो जानता आ रहा हूँ।

चन्द्रसेन—उस समय उनके मुख से शब्द स्पष्ट निकल रहे थे ?

गिरीश—हाँ, बिल्कुल स्पष्ट ! सुनिये, उसके बाद उन्होंने कहा—नहीं, जो तुम अब तक जानते आ रहे हो, कुछ भी ठीक नहीं है—मैं ब्राह्मण नहीं हूँ—

चन्द्रसेन—फिर आपने पूछा नहीं, वह कौन थे ?

गिरीश—मैंने पूछा—आप ब्राह्मण नहीं, तो कौन हैं ? उन्होंने कहा—मैं शूद्र हूँ ! उसके बाद जो सुन पड़ा—जैसे एक हाहाकार था—'मुझे क्षमा करो बिन्दुसार—मुझे क्षमा करो भवगुप्त—मुझे क्षमा करो जयन्त—अरे—तुम लोग—कौन हो—मुझे क्यों पकड़ते हो—ओह ! कितने—काले—कितने भयंकर—हट जाओ—हट जाओ—मैं ब्राह्मण हूँ—तुम अपने हाथों में मांस लेकर खा रहे हो—उससे रक्त चू रहा है—मेरे ऊपर पड़ जायगा—हट जाओ।' मैंने बड़े साहस से कहा—कोई नहीं है, चुप रहिये। फिर भी वैसा ही हाहाकार सुन पड़ा—'चुप रहूँ—देखते नहीं—प्रलय की नदियाँ कितने वेग से बढ़ती चली आ रही हैं—कितने भयंकर वेग से लहरें गरज रही हैं—मैं भी एक लहर हूँ—मैं चुप क्यों रहूँ !' अन्त को एक हिचकी में सब समाप्त हो गया ! शव गंगा-तट पहुँच गया होगा। मैं जाता हूँ—

(एक ओर से गिरीश और दूसरी ओर से चन्द्रसेन का प्रस्थान)

सातवाँ दृश्य

अशोक की बैठक का बाहरी बरामदा—दोमंजिला

(समय – तीसरा पहर; चन्द्रसेन और अशोक)

चन्द्रसेन—सम्राट, धर्मनाथ ने विष खाकर आत्महत्या कर ली !

अशोक—आत्महत्या कर ली—कब ?

चन्द्रसेन—आज रात को !

अशोक—हूँ ! ब्राह्मण को पश्चात्ताप हुआ—यह भी अच्छा है; किन्तु आत्महत्या ऐसा पाप ब्राह्मण से कैसे हो सका ?

चन्द्रसेन—गिरीश से भेंट हुई थी। उन्होंने सब कहा। वह उस समय वहीं थे। उफ ! कैसी भयंकर मृत्यु थी !

अशोक—न कहिये मंत्रीजी, मृत्यु की कहानी सुनते-सुनते ऊब गया हूँ—जहाँ देखिये वहीं मृत्यु ! इस संसार में मृत्यु छोड़कर और क्या है ! किन्तु आत्महत्या—धर्मनाथ ने ऐसा कैसे किया, कुछ समझ में नहीं आता। ब्राह्मण की कैसी क्षमता थी—चली गई ! मनुष्य—जिसका यही परिणाम है—उन्मत्त हो उठता है— (दरवान का प्रवेश)

दरवान—सम्राट्, एक महात्मा आये हैं।

अशोक—महात्मा ? उन्हें यहीं लिवा लाओ।

(दरवान का प्रस्थान)

चन्द्रसेन—चलिये सम्राट, वहीं नीचे चलिये। यहाँ किसी अपरिचित का आना—

अशोक—नहीं, कोई डर की बात नहीं है। मुझे मनुष्य पर सन्देह नहीं रहा ! यहाँ इतने-से छोटे जीवन में कितना परिचय हो ही सकता है—

(संन्यासी के वेश में सर्वदत्त का प्रवेश)

सर्वदत्त—सम्राट की जय हो !

अशोक—(उठकर चरण पकड़ता है—फिर) मेरे बड़े सौभाग्य से ये चरण यहाँ पहुँचे हैं ! क्या कुछ आज्ञा है ?

सर्वदत्त—नहीं, कुछ नहीं कहना है

अशोक—यहाँ आने का प्रयोजन ?

सर्वदत्त—इस संसार में आने का ही क्या प्रयोजन है सम्राट ? किसी तरह दिन बिताने हैं—बीतते चलें।

अशोक—हाँ, यही तो है।

(बालक के वेश में माया का प्रवेश)

माया—(सर्वदत्त के पैरों पर गिरती हुई) पिताजी—

सर्वदत्त—(चौंक कर)—कौन—तुम—माया—यहाँ इस वेश में—बेटी ! तू यहाँ कैसे आई ? (अशोक से) सम्राट—यह मेरी कन्या है, जो आपके यहाँ इस वेश में—यह आपके यहाँ कैसे आई—सम्राट ?

माया—पिताजी—

सर्वदत्त—ना बेटी, यह तुम्हारा वेश नहीं है। इस वेश में तुम संसार को धोखा दे रही हो। जो सत्य है, वही प्रकट होना चाहिये। आओ बेटी, अपने वेश में आओ। मैं तुम्हारे इस वेश को—जिसमें तुम सत्य को छिपा रही हो—देख नहीं सकता—

(सिर झुकाये हुए माया का प्रस्थान)

अशोक—तो आप कलिंग के महाराज हैं ?

सर्वदत्त—हाँ, कभी था—

अशोक—कभी थे—और अब ?

सर्वदत्त—अब तो जो हूँ, वह तो देख रहे हो सम्राट !

अशोक—यह तुमने क्या दिखलाया जगदीश ! इसी संसार में इतने महत् भी हैं ! महाराज, मैंने आक्रमण कर

आपका राज्य लिया—इतना ही नहीं, अपने हाथों आपके एक-मात्र पुत्र की हत्या की ! इतने पर भी आप मेरी ओर इस उदारता से देखते हैं ! महाराज, आपकी आँखों में क्षोभ की लाली नहीं दौड़ती—हृदय में प्रतिहिंसा का भाव नहीं आता—यह कैसा दृश्य ! स्वर्ग का यह गौरव इस संसार में कैसे आया ? (सर्वदत्त के पैरों पर गिरता है)

सर्वदत्त—(अशोक को उठाकर) सम्राट, उस ईश्वर की यही इच्छा थी—तुम्हारा कोई दोष नहीं। और फिर, जो बीत गया, उसकी ओर देखकर अपना भविष्य बनाओ। युद्ध होता क्यों है सम्राट—जानते हो ? मनुष्य जब अपने प्रेम की परिधि संकीर्ण कर बहुतों को उससे वंचित रखता है, तब युद्ध का अवसर आता है। यदि मनुष्य सबसे प्रेम करे, तो युद्ध की कल्पना भी कोई क्यों करे। सम्राट! संसार में इसी सत्य प्रेम का प्रचार करो। ये जितने प्राणी तुम्हें देख पड़ते हैं, वे सभी उसी ईश्वर के चलते-फिरते मन्दिर हैं—इन सबके भीतर वही एक ईश्वर है। किसमें उसकी उपासना करोगे, किसमें नहीं ? तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है सम्राट ; यह तो भ्रम है !

अशोक—यही विजय है—मैं मूर्ख समझता था—मैं जीत गया; किन्तु आज मालूम हुआ—जीत नहीं, हार गया था ; महाराज, आप विजयी हैं, और मैं—नहीं—यह क्या—महाराज, अपना कलिंग आप ले लीजिये। मुझे अपनी तृष्णा का पूरा दण्ड मिला ! भूल हुई थी—सुधर गई !

सर्वदत्त—अशोक, न कलिंग मेरा है—और न तुम्हारा।

यह साम्राज्य भी तुम्हारा नहीं है। जिसका है, वह इसकी व्यवस्था करेगा। तुमसे जो वह कहता है करते चलो। मानव-जीवन की चरम गति यही है।

(स्त्री-वेश में माया का प्रवेश)

सर्वदत्त—देखो अशोक, मेरी माया अपने सच्चे वेश में कितनी अच्छी लगती है! इसमें जो कुछ सत्य है, वह अब देख पड़ता है—चलो बेटी, चलें।

अशोक—माया आपकी नहीं, मेरी है। (चन्द्रसेन से) अरुण को बुलाइये; (चन्द्रसेन का प्रस्थान) अब यह कहाँ जायगी; इसे अरुण को सौंप दीजिये।

सर्वदत्त—यह अरुण कौन ?

अशोक—मेरे बड़े भाई का पुत्र।

सर्वदत्त—अच्छा, जो चाहो करो। सम्राट की आज्ञा पूरी होगी।

अशोक—गुरुदेव! मैं आपके निकट सम्राट नहीं हूँ। आपने जो मंत्र दिया है—इस शेष जीवन में वही प्रकाश करता रहे—मुझे गुरुमंत्र दीजिये—

सर्वदत्त—मैं किसी विशेष धर्म की दीक्षा नहीं दे सकता। (गिरीश का प्रवेश) हाँ, यदि दीक्षा लेना चाहते हैं, तो (गिरीश को दिखाकर) इनसे लीजिये। यह जब से बौद्ध हुए हैं, उपगुप्त कहे जाते हैं। यह आपको वह मार्ग बतायेंगे—

अशोक—अच्छा, वही दें—(उपगुप्त को प्रणाम करता है)

उपगुप्त—तुम्हें बौद्ध-धर्म की दीक्षा दी जायगी—

(अरुण का प्रवेश)

(अशोक माया का हाथ पकड़कर अरुण के हाथ में देता है)

अरुण—(विस्मय से) यह कौन ?

अशोक—(हँसकर) इतने दिन साथ रहे, पहचानते भी नहीं ?

(भवगुप्त का प्रवेश)

भवगुप्त—(अरुण को माया का हाथ पकड़े देखकर)—अरुण ! यह क्या ?

सर्वदत्त—यह मेरी लड़की है। तुम्हारा अरुण आज इसका स्वामी है !

भवगुप्त—कैसा यह बन्धन है ! हृदय आज भी क्यों विचलित हो रहा है। नहीं, यहाँ नहीं ठहर सकता।

(जाना चाहता है)

(शीघ्रता से विमला का प्रवेश)

विमला—(भवगुप्त के समीप पहुँचकर) नाथ !

भवगुप्त—(घूमकर)—कौन, तुम हो—विमला ! आज मैं जिस जगत का प्रतिनिधि हूँ—इस जगत के किसी भी व्यक्ति का मैं तुमसे कम प्यार नहीं करता—अब केवल तुम मुझे घेरकर नहीं रख सकोगी—(प्रस्थान)

(धीरे-धीरे विमला का प्रस्थान)

सर्वदत्त—सम्राट, जाता हूँ। तुमने जो संकल्प किया है—ईश्वर करे, सफल हो। (अरुण और विमला से) तुम दोनों जीवन-भर सुखी रहो।

उपगुप्त—चलो अशोक, यह महात्मा हैं—इन्हें पहुँचा आओ, और दीक्षा की तैयारी करो—

(दोनों का प्रस्थान)

अरुण—मायाविनि ! इतने दिनों तक—

माया—मैं तुमसे बोलना नहीं चाहती । (हँसकर जाना चाहती है, और अरुण उठकर उसका अंचल पकड़ता है)

[यवनिका-पतन]